आपदा प्रबन्धन : परम्पराओं में छुपे राज़

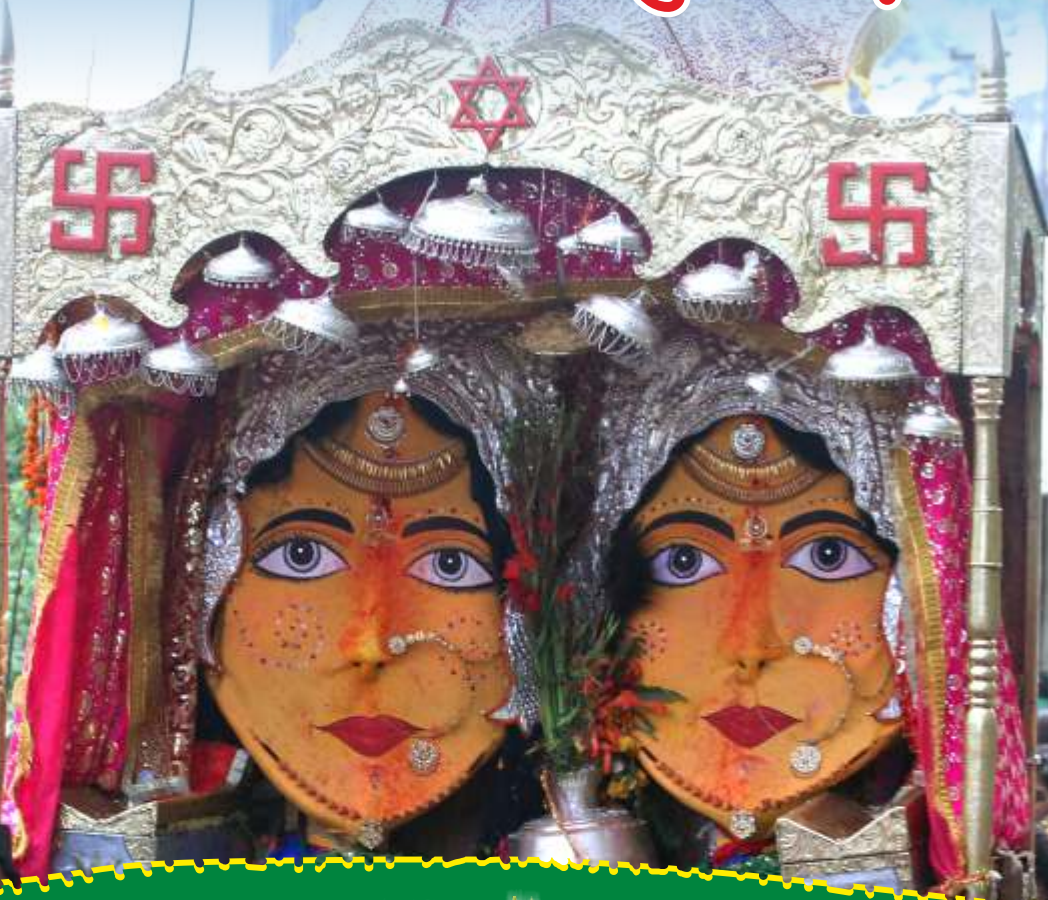

DMMC

आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्धन केन्द्र

(आपदा प्रबन्धन विभाग, उत्तराखण्ड शासन का स्वायत्तशासी संस्थान)

उत्तराखण्ड सचिवालय, देहरादून-248001

आपदा प्रबन्धन : परम्पराओं में छुपे राज़

पीयूष रौतेला

आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्धन केन्द्र
(आपदा प्रबन्धन विभाग, उत्तराखण्ड शासन का स्वायत्तशासी संस्थान)
उत्तराखण्ड सचिवालय, देहरादून-248001

छायाचित्र: पीयूष रौतेला
प्रारूप : गोविन्द रौतेला

© कॉपीराइट अक्टूबर, 2018, पीयूष रौतेला
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रू. 80

आवरण चित्र : पहाड़ो की आराध्य माँ नन्दा देवी का परम्परागत शृंगार

पीयूष रौतेला द्वारा इस प्रकाशन के लेखक के रूप में पहचाने जाने के अधिकार की पुष्टि कॉपीराइट अधिनियम, 1957 के अनुसार की गयी है। पूर्व में ली गयी लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी भाग का किसी भी विधि के द्वारा पुनर्प्रकाशन, अनुवाद, रूपान्तरण व व्यावसायिक उपयोग अधिनियम के प्रावधानों के द्वारा प्रतिबन्धित है।

मुद्रक : शब्द संस्कृति प्रकाशन, देहरादून। मो॰ - 9219516566

प्रकाशक :
आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्धन केन्द्र
(आपदा प्रबन्धन विभाग, उत्तराखण्ड शासन का स्वायत्तशासी संस्थान)
उत्तराखण्ड सचिवालय, देहरादून-248001

अनुक्रमणिका

	प्रस्तावना	**i**
1.	**आपदा संवेदनशील क्षेत्र में निवास**	**1**
2.	**अनुभव व अर्जित ज्ञान**	**7**
3.	**जल संसाधन प्रबन्धन**	**11**
	3.1 भूमिगत जल की समझ	15
	3.2 भूमिगत जल का संवर्धन	17
	3.3 पानी और वानस्पतिक आवरण	22
	3.4 भूमिगत जल का उपयोग	25
	3.5 भूमिगत जल एवं पहाड़ों में मानव निवास का विस्तार	33
	3.6 जल स्त्रोत व हमारी मान्यतायें	34
4.	**भू-स्खलन प्रबन्धन**	**37**
	4.1 जंगल गूल	38
	4.2 सीढ़ीदार खेत	40
	4.3 बसावत का प्रारूप	43
5.	**भूकम्प सुरक्षा**	**47**
	5.1 बहुमंज़िला भवनों की विरासत	48
	5.2 भूकम्प सुरक्षा की समझ	52
	5.3 भूकम्प सुरक्षित निर्माण की कला का विकास	53
	5.4 परम्परा और विज्ञान की कसौटी	67
	5.5 निर्माण कला का पोषण	69
6.	**बाढ़ सुरक्षा**	**73**
7.	**खाद्य सुरक्षा**	**77**
	7.1 फसल प्रजाति	77
	7.2 भू-प्रबन्धन	78
	7.3 मिश्रित खेती	79
	7.4 फसल चक्र	80
	7.5 खाद्य प्रसंस्करण	81
	7.6 मवेशी	82
	7.7 पशु बलि	83
8.	**सड़क हादसे**	**85**
9.	**आज का परिदृश्य**	**87**

प्रस्तावना

अपने आस-पास प्रायः सहजता से उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान की जानकारियों व दैनिक जीवन में उपयोग में लायी जाने वाली तकनीकों की चकाचौध में हम में से ज्यादातर अपनी परम्पराओं में छुपे ज्ञान व कौशल को प्रायः देख ही नहीं पाते हैं। शायद हम जान कर भी यह स्वीकार करने में झिझकते हैं कि हमसे पहले की पीढ़ियों या फिर हमारे पूर्वजों का ज्ञान हमारे जैसा ही उन्नत था। आज भी पुष्पक विमान व ब्रह्मास्त्र की परिकल्पना पर विश्वास करने वाला आम आदमी तो शायद एक बार स्वीकार भी कर ले कि हमारे पूर्वजों के पास काफी उन्नत ज्ञान था परन्तु हमारा वैज्ञानिक समुदाय इस सब पर ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता महसूस नहीं करता है जिसके कारण सदियो की मेहनत से विकसित परम्परागत विधियों व तकनीको को अपेक्षित महत्व नहीं मिल पाया है।

समय के साथ विश्व भर में काफी कुछ बदल रहा है और धीरे-धीरे ही सही पर विशेष रूप से चिकित्सा व औषधि विज्ञान के क्षेत्र में परम्परागत ज्ञान की स्वीकार्यता तेजी से बढ़ रही है। फिर बौद्धिक सम्पदा के आज के युग में हर कोई इस ज्ञान का सहारा ले कर आगे बढ़ने की होड़ में जुटा है। ऐसे में आवश्यक हो जाता है कि हम भी अपने पूर्वजों के परम्परागत ज्ञान में छुपे विज्ञान को समझे, परिष्कृत करें व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उपयोग में लाने पर विचार करें।

इस पुस्तक में उत्तराखण्ड में रहने वाले लोगों के आपदा जोखिम

न्यूनीकरण सम्बन्धित परम्परागत ज्ञान से जुड़ी जानकारियों को संकलित किया गया है। हो सकता है आप इस पुस्तक में यहाँ के लोगों की परम्परागत विधियों को ले कर की गयी विवेचना व औचित्य निर्धारण से सहमत न हों और हो सकता आप सही हों। सत्य जो भी हो, इस पुस्तक में संकलित तथ्यों व जानकारियों से आपकी कल्पना की उड़ान को निश्चित ही एक नई दिशा मिलेगी। हो सकता है इससे प्रेरित हो कर कुछ छात्र या वैज्ञानिक इस महत्वपूर्ण किन्तु भुला दिये गये पक्ष पर अध्ययन या शोध करने को तैयार हो जाये। इससे आज के परिप्रेक्ष्य में उपयोगी तकनीकों का विकास भी हो सकता है। यही इस पुस्तक को लिखने का मूल उद्देश्य है। और कुछ हो न हो, किये गये इस प्रयास से इस क्षेत्र के लोगों के परम्परागत ज्ञान का कुछ हिस्सा संकलित तो होता ही है। फिर इससे हमारी आज की पीढ़ी को अपने पूर्वजों के ऊपर अभिमान करने का मौका भी तो मिलता है।

यदि आपके पास इस प्रकार की कोई भी जानकारी हो तो आपसे उसे हमें भेजने का अनुरोध है ताकि हम इस पुस्तक के अगले संस्करण में आपके सन्दर्भ के साथ उस जानकारी का समावेश कर सकें। हमेशा की तरह इस पुस्तक को ले कर आपकी प्रतिक्रिया व सुझावों का हमें इन्तजार रहेगा।

अक्टूबर, 2018
आपदा न्यूनीकरण एवं प्रबन्धन केन्द्र
देहरादून

पीयूष रौतेला

आपदा संवेदनशील क्षेत्र में निवास

हम भली–भाँति जानते हैं कि उत्तराखण्ड कई संकटों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील है और इनके कारण यहाँ प्रायः आपदायें घटित होती रहती हैं। अब ऐसा भी नहीं है कि यह क्षेत्र अभी हाल से ही आपदाओं से प्रभावित होने लगा हो। 01 सितम्बर, 1803 को इस क्षेत्र में आये गढ़वाल भूकम्प के कारण जन–धन की भारी क्षति हुयी थी और इस भूकम्प के प्रभाव हरिद्वार, दिल्ली, अलीगढ़ व मथुरा तक महसूस किये गये थे।

1866 व 1869 में हुवे भू–स्खलनों के बाद 18 सितम्बर, 1880 को नैनीताल शहर के शेर का डांडा क्षेत्र में हुवे

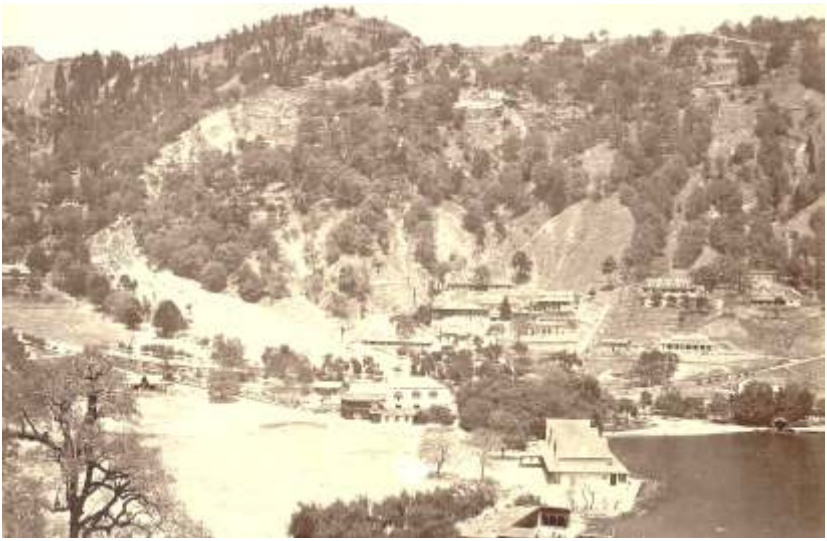

चित्र 1 – 1875 में नैनीताल

चित्र 2 - 1880 में नैनीताल के शेर का डांडा क्षेत्र में हुवा भू-स्खलन

भू-स्खलन के कारण 151 व्यक्ति मारे गये थे। इस घटना में नन्दा देवी का प्राचीन मन्दिर क्षतिग्रस्त हो गया था। भू-स्खलन के बाद जिस स्थान पर मन्दिर की घंटी मिली वहीं पर नन्दा देवी की स्थापना कर दी गयी।

इसके बाद 06 सितम्बर, 1893 को हुवे भू-स्खलन के कारण बिरही गंगा में झील बन गयी थी। उस समय जनपद के सर्वेयर टी. एच. हालैण्ड ने क्षेत्र का सर्वेक्षण कर के भविष्य में बाढ़ की आशंका व्यक्त की थी। अतः स्थिति के नियमित परिवीक्षण का उत्तरदायित्व लेफ्टिनेन्ट क्रुकशैन्क को दिया गया तथा झील के जल स्तर व हो रहे जल प्रवाह के आंकड़ों के प्रेषण के लिये टेलीग्राफ लाइन की भी व्यवस्था की गयी।

उनके द्वारा भेजे गये आंकड़ों का विश्लेषण कर के सेना के अभियन्ताओं ने भू-स्खलन से बने बाँध के ढहने के समय का आंकलन किया जिसके आधार पर अलकनन्दा घाटी के निचले क्षेत्रों से आबादी को हटा दिया गया और साथ ही चमोली से हरिद्वार के बीच स्थित 08 झूला पुलों को भी खोल कर सुरक्षित रख दिया गया।

26 अगस्त की चेतावनी के सापेक्ष भू-स्खलन से बना यह बाँध टूटा एक दिन पहले 25 अगस्त, 1894 को और इसी के साथ गौना ताल से 2,832 लाख घन मीटर पानी अलकनन्दा में प्रवाहित हो गया। समय पर दी गयी चेतावनी के कारण इस घटना में मानव क्षति तो नहीं हुयी परन्तु अलकनन्दा घाटी में अवसरंचनाओं व परिसम्पत्तियों की भारी क्षति अवश्य हुयी।

घटनाओं व स्थितियों के एतिहासिक अभिलेखीकरण की सुदृढ़ परम्परा न होने के कारण इस क्षेत्र में इससे पहले घटित हुयी आपदाओं के बारे में हमें ठीक से कुछ भी पता नहीं हैं पर आपदायें तो इस क्षेत्र में सदा से ही घटित होती रही होंगी और फिर ऐसा भी नहीं है कि इस क्षेत्र में मानव निवास अभी हाल में ही आरम्भ हुवा है।

यहाँ इस क्षेत्र में मानव निवास के प्रमाण भी काफी पहले से मिलने शुरू हो जाते हैं; जब से इस महाद्वीप में मानव

उपस्थिति के प्रमाण मिलते हैं, उसी समय के आस-पास से इस क्षेत्र में भी निरन्तरता में मानव निवास रहा है। समय बीतने के साथ कई समुदाय विभिन्न कारणों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर बसते रहे हैं और ऐसा हमेशा से होता चला आ रहा है। ऐसे में हो सकता है कि कुछ लोग निश्चित ही देश के अन्य क्षेत्रों से आ कर यहाँ बसे हों परन्तु फिर भी कुछ लोग तो निश्चित ही होंगे जो हमेशा से यहाँ इस क्षेत्र में रहते चले आ रहे होंगे।

शंकराचार्य की सांस्कृतिक दिग्विजय तथा हिन्दू धर्म के विपरीत भूत पूजा (ancestor worship) व पशु बलि का इस क्षेत्र के लोगों की परम्पराओं (little tradition) में अन्तर्निहित होना इस तथ्य को उजागर करने के लिये काफी है कि इस क्षेत्र में काफी पहले से कुछ लोग निवास कर रहे थे और जिनकों मुख्य धारा में लाने के लिये आदि गुरू शंकराचार्य द्वारा प्रयास किये गये थे।

कारण जो भी रहे हों, समय बीतने के साथ इस क्षेत्र की परम्पराओं के साथ ही परम्परागत सम्बोधन भी कमतर कर के देखे जाने लगे। तभी तो कभी खसदेशाधिपति कहे जाने वाले इस क्षेत्र के शासकों की प्रजा (खस) के सम्बोधन को आज अत्यन्त हेय दृष्टि के साथ देखा जाता है। अब यह अलग बात

है कि अल्मोड़ा शहर के पास का एक समृद्ध क्षेत्र खसप्रजा पट्टी के अन्तर्गत आता है और इसकी पुष्टि राजस्व अभिलेखों से सहज ही की जा सकती है।

खैर यहाँ रहने वाले लोग यहाँ के मूल निवासी हो या फिर कहीं और से आ कर यहाँ बसे हों, कठिनाइयों का सामना तो उन्होंने अवश्य ही किया होगा। आज की ही तरह पहाड़ों में जीवन-यापन सदा से ही कठिन रहा होगा और संसाधनों की सीमित उपलब्धता के कारण स्थितियाँ प्रतिकूल रही होगी। खेती व रहने के लिये जमीन हो या फिर पानी; पहाड़ों में आज की ही तरह संसाधनों की हमेशा से कमी रही होगी और फिर आज प्राय: आपदाओं का कारण बनने वाले विभिन्न संकट भी इस क्षेत्र में हमेशा से उपस्थित रहे होंगे। ऐसे में यहाँ बसने के साथ से ही इन लोगों ने इनका सामना भी निश्चित ही किया होगा।

इन स्थितियों में इस प्रश्न का सामने आना स्वाभाविक है कि आखिर इन लोगों ने बसने के लिये इस आपदा प्रवृत्त क्षेत्र को ही क्यों चुना? उस समय जगह की कमी तो थी नहीं और ऐसे में वह अन्य स्थानों पर भी निश्चित ही बस सकते थे। पूरा का पूरा तराई-भाभर का इलाका तब खाली पड़ा था। ऐसे में उनके द्वारा यहाँ पहाड़ों में बसने को प्राथमिकता देना अपने आप में

कौतूहल व जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये काफी है।

किसी भी समुदाय के लिये अपना वर्चस्व बनाये रखना और अपनी निरन्तरता सुनिश्चित करना सबसे बड़ी प्राथमिकता होती है। ऐसे में बिना किसी ठोस रणनीति के यहाँ इस आपदा संवेदनशील क्षेत्र में बने रहने का कोई भी औचित्य नजर नहीं आता है। स्पष्ट है कि हम आधुनिकता, विज्ञान व प्रौद्योगिकी की चकाचौध में आज वो सब नहीं देख पा रहे हैं जो यहाँ के लोगों ने आपदाओं से सुरक्षित रहने के लिये किया और जिसके बल पर वह इस क्षेत्र में सफलतापूर्वक बने रह पाये।

अनुभव व अर्जित ज्ञान

आप माने या न माने पर इस क्षेत्र में लम्बे समय से रह रहे लोगों ने अपने आस–पास होने वाली विनाशकारी घटनाओं के कारणों को जानने–समझने के लिये उनसे जुड़े विभिन्न पक्षों की गहनता से विवेचना की तथा अपने अनुभव एवं अर्जित ज्ञान के आधार पर निरन्तरता में किये गये प्रयासों के द्वारा उनके प्रभावों को कम करने के लिये व्यवस्थायें विकसित की। सुनिश्चित करने के लिये कि सभी के द्वारा इन विधियों व तकनीकों का अनुपालन किया जाये इन लोगों ने कई नियम भी बनाये। साथ ही इन लोगों ने इस ज्ञान को संरक्षित रखने, समय के साथ परिष्कृत करने व पीढ़ी दर पीढ़ी आगे ले जाने के लिये भी सुदृढ़ व प्रभावी व्यवस्थायें की। इसके बिना यह सब न जाने कब के भुला दिया गया होता।

यहाँ इस आपदा संवेदनशील क्षेत्र में मानव निवास की निरन्तरता के आधार पर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि यहाँ के लोगों ने एक ऐसी व्यवस्था का विकास कर लिया था जिसके बल पर वह यहाँ उपस्थित संकटो के प्रभावों को कम या सीमित कर सकने में सक्षम हो गये थे। ऐसा न होने की स्थिति में या तो वह आपदाओं की भेंट चढ़ गये होते या फिर

इस क्षेत्र को छोड़ कर कहीं और व अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित स्थान पर बस गये होते।

यहाँ यह समझना जरूरी है कि इन लोगों के द्वारा इस क्षेत्र में उपस्थित संकटों का सामना करने के लिये की गयी यह सारी की सारी व्यवस्थायें निश्चित ही जीवित रहने की जद्दोजहद में की गयी होगी और तब शायद उन्होंने हमारी तरह आपदा प्रबन्धन या आपदा जोखिम न्यूनीकरण का ढोल भी नहीं पीटा होगा। जो भी हो इन सब ने लोगों को इन संकटों से सुरक्षित तो रखा ही।

हमारे विपरीत यहाँ के लोग जानते थे कि केवल तकनीक या विधि विकसित कर लेने से समस्या का हल होने से रहा। उन्हें पता था कि समुदाय की सुरक्षा के लिये सभी के द्वारा इन विधियों व तकनीकों का अनुपालन करना जरूरी है। हर किसी की निगरानी कर पाना न आज सम्भव है और न ही तब रहा होगा। ऐसे में अपने अनुभवों से वह जान गये थे कि कैसे इन नियमों का अनुपालन सुनिश्चित करवाना है, तभी तो इसके लिये उन्होंने जहाँ एक ओर धर्म, मान्यताओं व परम्पराओं का सहारा लिया तो वहीं दूसरी ओर बड़ी चतुराई से इसके लिये सामाजिक व धार्मिक प्रतिबन्धों का भी उपयोग किया।

यह सच में सोच-समझ कर व बेहद चतुरायी से लिया गया

चित्र 3 – जल चक्र

निर्णय था जिसके कारण अनुपालन के लिये न तो आज की तरह विज्ञापनों की जरूरत पड़ी और न ही जन–जागरूकता अभियानों की। ऐसे में यहाँ के लोगों ने आपदा सुरक्षा हेतु बनाये गये नियमों के स्वैच्छिक अनुपालन के लिये जो कुछ किया वह हमारे लिये आज भी अनुकरणीय है।

क्या आपको कभी इस बात पर आश्चर्य नहीं होता कि बिना किसी विज्ञापन के पता नहीं कब से यहाँ से सैकड़ों किलोमीटर दूर पैदा होने वाले नारियल, पान तथा सुपारी धर्म व मान्यता के नाम पर निरन्तरता में बिक रहे हैं? अब मार्केटिंग का इससे बेहतर कोई उदाहरण तो मिलने से रहा।

आज की ही तरह भू–स्खलन, बाढ़, भूकम्प व सूखा हमेशा से

ही इस क्षेत्र में घटित हो रहे होंगे और इनसे यहाँ रह रहे लोगों के हितों को नुकसान भी पहुँच रहा होगा। इन लोगों ने इन सभी संकटो के प्रभावों को महसूस किया होगा और साथ ही इनके कारणों की विवेचना भी की होगी।

भू-स्खलन व बाढ़ या त्वरित बाढ़; बारिश के मौसम में यहाँ रह रहे लोगों ने भी इनको प्रायः घटित होते देखा होगा। इनको पानी की अधिकता से जोड़ कर समझने की कोशिश करना स्वाभाविक है और ऐसा हमारी तरह इन लोगों ने भी निश्चित ही किया होगा।

अपने आस-पास प्रायः घटित होने वाले और पानी की अधिकता से जुड़े इन संकटों के कारणों को समझने की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये की गयी विवेचना से इन लोगों को जल चक्र की कुछ बारीकियों का भी निश्चित ही पता चल गया होगा।

पानी समुद्र से भाप बन कर ऊपर उठता है और वही भाप बादल बन कर यहाँ बरसती है; वह शायद इतना तो न जान पाये हों, पर उन्होंने जो कुछ किया उससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि यहाँ बरसने के बाद पानी के साथ क्या होता है तथा वह क्या करता है, उसे यह लोग निश्चित ही भली-भाँति जान गये थे।

जल संसाधन प्रबन्धन

पानी किसी भी समाज व सभ्यता के विकास के लिये सर्वाधिक आवश्यक संसाधन है। तभी तो विश्व भर में मानव सभ्यता के विकास का नदी घाटियों से नजदीकी रिश्ता रहा है। नदियों ने जहाँ एक ओर आवागमन का सस्ता व सुलभ विकल्प उपलब्ध करवाया तो वहीं दूसरी ओर सामरिक सुरक्षा भी प्रदान की। फिर नदियों के किनारे खेती–बाड़ी के लिये उपजाऊ जमीन व सिंचाई के लिये पानी भी तो सहज ही उपलब्ध था।

सच कहें तो पानी के बिना मानव बसावत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पानी जिन्दा रहने के लिये ही नहीं, जीवन की उत्पत्ति के लिये भी कितना महत्वपूर्ण है, इसका अन्दाज आप इस तथ्य से सहज ही लगा सकते हैं कि चन्द्रमा, मंगल या अन्य ग्रहों / उपग्रहों में जीवन के चिन्ह ढूँढने के ज्यादातर प्रयास पानी की उपस्थिति के साथ ही वायुमंडलीय गैसों की विवेचना पर केन्द्रित रहे हैं।

वैसे तो पहाड़ों में काफी अधिक वर्षा होती है पर ढाल के कारण ज्यादातर स्थितियों में बरसात का पानी तेजी से बह जाता

है और कुछ ही समय के बाद उसका किसी भी रूप में उपयोग कर पाना सम्भव नहीं होता है। फिर यहाँ पहाड़ों में ग्लेशियर से निकलने वाली सदाबहार नदियों का पानी भी तो बरसात व गर्मी के मौसम में पीने लायक नहीं होता है; गर्मी में ग्लेशियर के पिघलने से उत्पन्न रेत व मलबे के कारण तो बरसात में भू-क्षरण, भू-कटाव व भू-स्खलन के कारण बह कर आयी मिट्टी की वजह से।

यही कारण है कि आज भी जहाँ एक ओर ऊँचे पहाड़ी क्षेत्र में बसे टिहरी, पिथौरागढ़, अल्मोड़ा व पौड़ी जैसे शहरों में पानी की कमी रहती है तो वहीं सदाबहार नदियों के किनारे बसे उत्तरकाशी, श्रीनगर व बागेश्वर जैसे शहरों में भी पानी की आपूर्ति बनाये रखना सरल नहीं होता है।

ऐसे में निश्चित ही यहाँ बसने वाले लोगों ने आरम्भ में पीने के लिये चट्टानों के बीच से रिस कर निकलने वाले पानी के साथ ही छोटे गाड़-गधेरों के पानी का उपयोग किया होगा।

पहाड़ी ढाल पर रिस कर निकलने वाले पानी को इकट्ठा करने के लिये इन लोगों के द्वारा प्रायः चट्टान को काट कर जगह बनायी जाती थी और वहाँ जमा होने वाले पानी को सहजता से उपयोग में लाने के लिये उसे तराशे गये पत्थर से हो कर धारे

चित्र 4 – तराशे गये पत्थर से हो कर नीचे गिरता पानी यानी धारा

के रूप में प्रवाहित होने दिया जाता था। पत्थर पर तराशे गये विभिन्न जानवरों के मुँह से हो कर नीचे गिरता पानी आपने यहाँ पहाड़ों में कहीं न कहीं जरूर देखा होगा।

धारे के आस-पास साफ-सफाई सुनिश्चित करने के लिये नीचे जमीन पर पानी गिरने के स्थान पर चौरस पत्थर बिछाये जाते थे तो पास ही किसी बड़े पेड़ के चारों ओर पत्थर का चबूतरा बना कर वहाँ पर किसी स्थानीय देवी-देवता की स्थापना कर दी जाती थी। पानी के धारे के पास देवी-देवता की उपस्थिति के कारण इसकी साफ-सफाई व देख-रेख के लिये किसी से कुछ कहने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी।

इन धारों के साथ-साथ इन लोगों ने निश्चित ही पहाड़ी ढाल से निकलने वाले गाड़-गधेरों के पानी का भी उपयोग किया होगा। पर आज की तरह तब भी, विशेष रूप से गर्मी के मौसम में इनमें से कई का पानी कम हो जाया करता होगा और कुछ निश्चित ही सूख भी जाते होंगे। बरसात के लम्बे समय तक न होने या फिर ज्यादा गर्मी होने पर ऐसा होना स्वाभाविक है।

ऐसे में पानी की सतत् व पर्याप्त उपलब्धता को ले कर उत्पन्न होने वाली अनिश्चितता के कारण चिन्ता का होना स्वाभाविक है। फिर केवल धारों या गाड़-गधेरों के भरोसे बैठे रह कर पूरे समुदाय के भविष्य को जोखिम में डालने में भी तो कोई समझदारी नहीं थी। ऐसे में विकल्पों की तलाश करना जरूरी था और इन लोगों ने ऐसा ही किया।

3.1 भूमिगत जल की समझ

पानी की कमी होने की स्थिति में इन लोगों ने पानी से जुड़े विभिन्न पक्षों की गहन जाँच-पड़ताल की होगी और इस महत्वपूर्ण संसाधन के संवर्धन, संचय व दोहन पर भी ध्यान दिया होगा। इनके द्वारा की गयी व्यवस्थाओं की विवेचना करने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यह लोग अपने अनुभव से जान गये थे कि गाड़-गधेरों व धारों के रूप में पृथ्वी की सतह पर दिखायी देने वाला पानी वास्तव में वर्षा का ही पानी है।

क्षेत्र में पानी की उपलब्धता बढ़ाने के लिये इन लोगों ने जो कुछ किया उससे पता चलता है कि यह लोग जान गये थे कि सोतो या धारों के रूप में अचानक पहाड़ी ढाल पर दिखायी देने वाला पानी वास्तव में पहाड़ की ऊपरी ढाल में रिस कर जमीन के अन्दर चला गया बरसात का पानी ही है।

जमीन के अन्दर पानी के भण्डार की उपस्थिति की समझ; एक ऐसा भण्डार जहाँ बरसात का पानी जमा होता है और जहाँ से यह पानी धीरे-धीरे रिस कर धारों के रूप में पहाड़ी ढाल से बाहर निकलता है। यह एक ऐसी मूलभूत परिकल्पना थी जिसने इस क्षेत्र में पानी की सहज व सतत उपलब्धता

सुनिश्चित करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया।

पहाड़ी ढाल पर कुछ विशेष स्थानों पर अचानक पानी का दिखायी देना; क्या इसमें आपको कुछ अस्वाभाविक नहीं लगता है?

अचानक किसी स्थान से पानी निकलता दिखायी देने पर कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है और देर-सबेर ही सही पर इन में से कुछ पर यहाँ रह रहे लोगों ने भी अवश्य ही ध्यान दिया होगा:

(क) कहाँ से आ रहा है यह पानी?

(ख) अब तक या यहाँ पर दिखायी देने से पहले कहाँ था यह पानी?

(ग) यह पानी कभी कम तो कभी ज्यादा क्यों हो जाता है?

(घ) कभी-कभी यह पानी सूख क्यों जाता है?

(ङ) बरसात के बाद सूख गया यह पानी फिर दोबारा निकलना क्यों शुरू कर देता है?

(च) क्या पहाड़ों से निकलने वाले इस पानी को सूखने से रोका नहीं जा सकता?

इन प्रश्नों की सूची सच में काफी लम्बी हो सकती है। शायद इन्हीं प्रश्नों से जुड़ी पहेलियों को हल करते-करते यहाँ के लोगों ने जल-विज्ञान से जुड़े कई जटिल पक्षों को भी समझ लिया था और अपने इसी ज्ञान व समझ के आधार पर उन्होंने इस क्षेत्र में जल संसाधन प्रबन्धन की समृद्ध संस्कृति की नींव रखी थी।

3.2 भूमिगत जल का संवर्धन

जमीन के अन्दर पानी के भण्डार की परिकल्पना के साथ ही यहाँ रह रहे लोग अपने अनुभव से इतना तो जान ही गये होंगे कि पानी ऊपर से नीचे की ओर बहता है। इसके बाद इन लोगों के लिये यह समझना ज्यादा कठिन नहीं रहा होगा कि पहाड़ के ऊपरी क्षेत्र में जितना अधिक पानी जमीन के अन्दर जायेगा, जमीन के अन्दर स्थित पानी का भण्डार उतना ही बड़ा होगा और पहाड़ की निचली ढाल पर स्थित सोते या धारे उतनी ही लम्बी अवधि तक पानी देते रहेंगे।

शायद इसी समझ के साथ शुरू हुयी होगी यहाँ के लोगों की जल संरक्षण व संवर्धन की कोशिशें जो मुख्यतः इस पक्ष पर केन्द्रित थी कि पहाड़ के ऊपरी क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा पानी जमीन के अन्दर जाये।

यहाँ पहाड़ों में आज भी प्रायः कहा जाता है कि बाँज (oak) के जंगल वाले इलाके में पानी के काफी स्त्रोत होते हैं। इसके विपरीत माना जाता है कि चीड़ (pine) के जंगल के आस-पास पानी के स्त्रोत अपेक्षाकृत कम होते हैं।

कहने को तो हम बाँज का जंगल कह देते हैं पर आप मानेंगे कि वास्तव में यह एक घना मिश्रित वन होता है जिसमें बाँज के अलावा बुरांश (rhododendron) व काफल (bay-berry) के साथ-साथ कई प्रकार की अन्य वानस्पतिक प्रजातियाँ व झाड़िया भी होती हैं।

बाँज के जंगल से हो कर गुजरते समय हवा में नमी के साथ ही आपने महसूस किया होगा कि वहाँ जमीन पर प्रायः तलछट

चित्र 5 - परम्परागत चाल/खाल या फिर हमारे आज के रचार्ज पिट

की काफी मोटी परत होती है और उस पर चलते समय कुछ-कुछ फोम के गद्दे पर चलने का सा एहसास होता है। चलते समय कई बार पाँव के तलछट की परत में धँसने का सा एहसास शायद आपको भी हुवा हो।

तलछट की इस परत के कारण बाँज के जंगलों में बरसने वाला वर्षा का पानी एकदम से सतही बहाव के रूप में ढाल पर नहीं बह पाता है या फिर हम यह भी कह सकते हैं कि बाँज के जंगलों की तलछट की यह मोटी परत बारिश के पानी को काफी लम्बे समय तक वहीं रोके रखती है जिसके कारण ज्यादा से ज्यादा पानी जमीन के अन्दर प्रवेश कर पाता है। अब पानी जितनी ज्यादा देर तक किसी स्थान पर रूका रहेगा उसे जमीन के अन्दर जाने का उतना ही ज्यादा मौका मिलेगा। इसकी तुलना आप चीड़ के जंगल की स्थिति से करेंगे तो अपको स्वयं पता चल जायेगा कि वहाँ पानी कम क्यों होता है।

शायद ऐसे ही अनुभवों से यहाँ के लोग सीख गये थे कि पहाड़ के ऊपरी क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा वर्षा के पानी का जमीन के अन्दर जाना सुनिश्चित करना ही अपने आस-पास के धारों व गाड़-गधेरों के रिसाव को सदाबहार बनाने का सरल तरीका है।

इसके लिये इन लोगों के द्वारा किये गये उपायों से पता चलता है कि अपने अनुभव से यह लोग यह भी सीख गये थे कि ऐसा करने के लिये क्या किया जाना चाहिये।

पानी जमीन के अन्दर जाये इसके लिये जरूरी है कि वह ज्यादा मात्रा में और लम्बे समय तक जमीन के ऊपर बना रहे। जितनी ज्यादा मात्रा में और जितने लम्बे समय तक पानी जमीन की सतह के ऊपर बना रहेगा उतनी ही ज्यादा सम्भावना उसके जमीन के अन्दर जाने और पानी के भूमिगत भण्डार का हिस्सा बनने की होगी।

पहाड़ों में ढाल के कारण पानी का जमीन के ऊपर लम्बे समय तक बने रहना एक कठिन शर्त है जिसे पूरा करने के लिये यहाँ के लोगों ने अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर जो कुछ किया वह सच में अनूठा है।

यह लोग ऐसा कब से कर रहे हैं पूरे आत्मविश्वास के साथ यह कह पाना तो कठिन है परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यहाँ के लोग काफी पहले से वर्षा के पानी को पहाड़ी के ऊपरी ढाल पर ज्यादा से ज्यादा समय तक रोके रखने के लिये चाल या खाल बनाने लगे थे। इन लोगों की भूमिगत जल की समझ पर हम चाहें जितने भी प्रश्न चिन्ह क्यों न लगा लें

पर उनके द्वारा बनायी गयी यह संरचनायें हमारे द्वारा आज लम्बे अध्ययन, शोध व वैज्ञानिक परामर्श के उपरान्त बनाये जाने वाले रिचार्ज पिट (recharge pit) से किसी भी तरह से अलग नहीं है।

परम्परागत रूप से यह संरचनायें पहाड़ी के ऊपरी भाग में बनायी जाती है; विशेष रूप से ऐसे स्थानों पर जहाँ ढाल का परिमाण अपेक्षाकृत कम हो और ऊपरी ढाल से बह कर आने वाला पानी सहजता से इनमें जमा हो सके। समय बीतने के साथ पानी के साथ बह कर आयी चिकनी मिट्टी (clay) के इन संरचनाओं के तल पर जमा हो जाने के कारण इनसे पानी के रिसाव की गति काफी धीमी हो जाती है तथा वर्षा के बाद लम्बे समय तक इनमें पानी रूका रहता है।

अब यह भी हो सकता है कि ऐसा शुरू में जंगलों में चरने वाले जानवरों के लिये पानी की व्यवस्था करने के लिये किया गया हो और फिर जमीन के अन्दर पानी के जमा होने व पानी की उपलब्धता के मध्य के रिश्ते को समझने के बाद इन लोगों ने इस पक्ष पर ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया हो। खैर कारण जो भी रहा हो, इससे क्षेत्र में जल उपलब्धता तो बढ़ी ही।

3.3 पानी और वानस्पतिक आवरण

पेड़-पौधों, झाड़ियों व तलछट के द्वारा बरसात के पानी के बहाव को धीमा व नियंत्रित करना तथा रोकना, लम्बे समय तक ऊँचे स्थानों में रूके पानी का जमीन के अन्दर जाना तथा पृथ्वी की सतह के नीचे स्थित भूमिगत पानी के भण्डार का हिस्सा बनना और फिर चट्टानों में अवस्थित जोड़ व दरारों से रिस कर इस पानी का पहाड़ की निचली ढाल पर निकलना; इस समझ के बाद जंगलों के रख-रखाव व संवर्धन पर समुचित ध्यान देना स्वाभाविक था और ऐसा यहाँ के लोगों ने किया भी।

अत: यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि जल चक्र के इस मूलभूत नियम की समझ के साथ यहाँ रह रहे लोगों ने पानी की समुचित व सतत उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिये विशेष रूप से पहाड़ी के ऊपरी क्षेत्र में स्थित वनों के रख-रखाव व प्रबन्धन पर विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया था।

इसके लिये इन लोगों ने पहाड़ के ऊँचाई वाले क्षेत्र में स्थानीय देवी-देवताओं की स्थापना की और आस-पास के जंगलों को इन देवी-देवताओं को समर्पित करना शुरू कर दिया। इन जंगलों को सुरक्षित रखने के लिये इन लोगों ने सामाजिक व

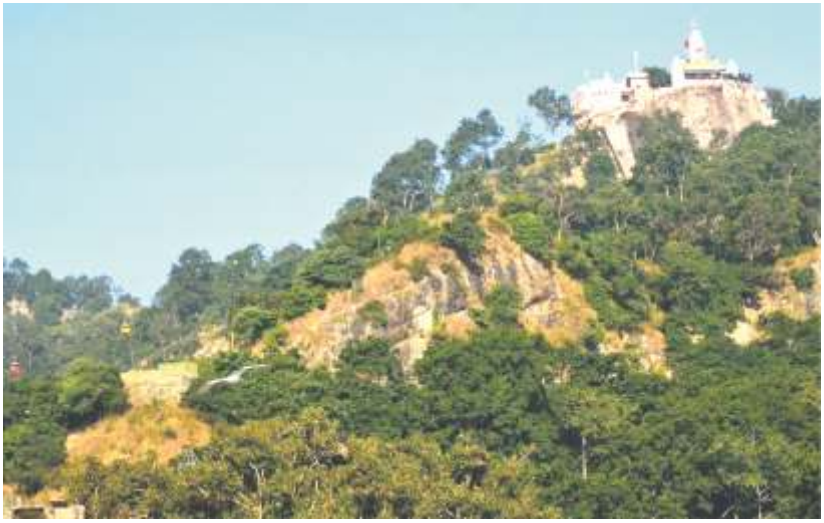

चित्र 6 – जंगलों की बीच पहाड़ी पर स्थित मंदिर

धार्मिक प्रतिबन्धों के साथ ही रीति-रिवाजों का भी सहारा लिया।

कुछ स्थानों में इन जंगलों से लकड़ी, चारा आदि के दोहन के लिये एक निश्चित समय-सीमा निर्धारित की गयी थी और उस अवधि के बीत जाने पर वहाँ से इन संसाधनों का दोहन प्रतिबन्धित था। इसके अलावा कुछ स्थानों में इन जंगलों को अलग-अलग भागों में बाँट कर बारी-बारी से इनसे संसाधनों के दोहन की व्यवस्था की गयी थी।

इन लोगों ने लकड़ी, चारा व अन्य वन उत्पाद इकट्ठा करने के लिये कुछ विशेष स्थानों पर स्थित जंगलों में काटने-छाँटने

वाले औजार या उपकरण के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। इस प्रकार इन जंगलों से लोग पेड़ से टूट कर गिर गयी लकड़ी के साथ ही हाथ से तोड़ी व इकट्ठा की गयी लकड़ी, घास व अन्य सामग्री तो ले सकते थे पर इसके लिये कुल्हाड़ी, हँसिया या दराती का उपयोग नहीं कर सकते थे।

इन उपायों के कारण जहाँ एक ओर स्थानीय निवासियों को इन जंगलों से अपनी जरूरत भर की लकड़ी, घास व अन्य सामग्री मिल जाती थी वहीं दूसरी ओर जंगल भी सुरक्षित बना रहता था।

कई दूर-दराज और ऊँचाई वाले क्षेत्रों में पारम्परिक पूजा अर्चना के लिये ब्रहम कमल *(Saussurea obvallata)* की आवश्यकता होती है जो प्रायः इन प्रतिबन्धित जंगलों की सीमा में उगता है। परम्परा के अनुसार यहाँ के मूल निवासी ब्रहम कमल को हाथ से न तोड़ कर झुक कर मुँह से तोड़ते हैं। संकेत स्पष्ट हैं कि यह पुष्प किसी मूर्ख जानवर के द्वारा तोड़ा जा रहा है जिसे पता ही नहीं है कि वह क्या कर रहा है। ऐसे में उसे दंड नहीं दिया जा सकता है।

ऐसा करने से जहाँ एक ओर तोड़े जाने वाले पुष्पों की संख्या काफी सीमित हो जाती है, वहीं दूसरी ओर इसमें स्थानीय

देवी-देवताओं के लिये भी स्पष्ट संकेत व क्षमा भाव छुपा है; तोड़ने वाले को ग्लानि भी न हो, परम्परा का निर्वहन भी हो जाये और साथ ही वन सम्पदा भी संरक्षित रहे।

इन जंगलों के प्रति यहाँ के लोगों में आज भी अपार श्रद्धा है और हो सकता है आपको इन जंगलों में प्रवेश करते देख गाँव का कोई बड़ा-बूढ़ा यह बता दे कि जंगल में क्या करना है और क्या नहीं करना है। कई स्थितियों में यह निर्देश काफी विस्तृत भी हो सकते हैं और इनके अन्तर्गत कूड़ा - कचरा निस्तारण, ध्वनि प्रदूषण व व्यक्तिगत आचार-व्यवहार से सम्बन्धित अनेको पक्ष समाहित हो सकते हैं। इन निर्देशों के अन्तर्गत आपको कुछ और चाहे न बताया जाये पर इतना जरूर बताया जायेगा कि पहाड़ के ऊपरी क्षेत्र में गन्दगी नहीं करनी है व मल-मूत्र का विसर्जन भी नहीं करना है। इसके लिये आपको देवी-देवता का डर भी दिखाया जा सकता है।

3.4 भूमिगत जल का उपयोग

अब यहाँ पहाड़ों में हर जगह सतह पर पानी तो उपलब्ध होता नहीं है। ऐसे में स्वाभाविक है कि आबादी बढ़ने के साथ लोगों को बसने के लिये पीने के पानी की सहज उपलब्धता वाली

उपयुक्त जगह की कमी महसूस हुयी होगी। अपनी इस परेशानी के हल के लिये यहाँ के लोगों ने अपना ध्यान जल चक्र के विभिन्न पक्षों से जुड़े अपने ज्ञान पर अवश्य केन्द्रित किया होगा और सहज ही उन्हें यह समझ में आ गया होगा कि पहाड़ों की ऊपरी ढाल पर जमीन के अन्दर जाने वाला पानी चट्टानों में अवस्थित जोड़ व दरारों से हो कर निचली ढाल पर कुछ उपयुक्त जगहों पर रिस कर सतह पर निकलता है।

इतना सब समझ में आ जाने के बाद देर-सबेर ही सही पर इन लोगों का ध्यान इस सार्वभौमिक सच पर भी निश्चित ही गया होगा कि अन्य स्थानों पर यह पानी पृथ्वी की सतह के नीचे होना चाहिये। इसके बाद इन लोगों के लिये यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं रहा होगा कि ऐसे स्थानों पर खोदने पर कुछ गहरायी पर पानी मिलना चाहिये। और यहीं से शुरू हुयी होगी यहाँ के लोगों की पहाड़ों में भूमिगत जल का पता लगाने और उसके दोहन की यात्रा। यह सब निश्चित ही इतना सरल व सहज भी नहीं रहा होगा और इसके लिये इन लोगों ने निश्चित ही लम्बे समय तक प्रयास किये होंगे।

अब ठीक है यह लोग जान गये थे कि जमीन के नीचे पानी है और खोद कर उसे उपयोग में लाया जा सकता है पर मैदानी क्षेत्रों की तरह यहाँ पहाड़ों में कही भी खोद देने से तो पानी

मिलने से रहा। यहाँ मैदानों की तरह जमीन की सतह के नीचे एक निश्चित गहरायी पर हर जगह भूमिगत जल जो नहीं होता है। चट्टानों में अवस्थित जोड़ व दरारों के कारण पहाड़ों में भूमिगत जल के प्रवाह का प्रारूप काफी जटिल हो जाता है और कुछ अनुकूल स्थितियों में ही जमीन के नीचे पानी मिल सकता है। फिर हर जगह खोद कर देख पाना न आज सम्भव है और न ही तब सम्भव रहा होगा। फिर ऐसा करने में कोई समझदारी भी तो नहीं थी।

शायद शुरू में मिट्टी में नमी की मात्रा, पेड़-पौधों का विस्तार व घनत्व, कुछ विशिष्ट पेड़-पौधों की उपस्थिति, विशिष्ट स्थलाकृति व अन्य प्रत्यक्ष लक्षणों के आधार पर इन लोगों ने पानी मिल सकने वाले सम्भावित स्थानों को चिन्हित करने के लिये कुछ नियम बनाये हो। इन संकेतों के आधार पर चिन्हित किये गये स्थानों पर निश्चित ही सतह के नजदीक पानी मिलने की ज्यादा सम्भावना होती है। समय बीतने के साथ भूमिगत जल का पता लगाने का उनका यह ज्ञान निश्चित ही काफी परिष्कृत हो गया था और वह काफी गहरायी में स्थित जल भण्डारों का पता लगाने की कला में भी दक्ष हो गये थे।

यदि आपको गढ़वाल क्षेत्र की 2-3 नदियों के नाम बताने को कहा जाये तो आप शायद इससे कहीं ज्यादा का नाम बता दें।

मन्दाकिनी, अलकनन्दा, भागीरथी, पिण्डर, नन्दाकिनी, यमुना, गंगा आदि के नाम तो आपको याद ही होंगे। पर कुमाऊँ क्षेत्र की नदियों का क्या? वहाँ की कितनी नदियों के नाम बता पायेंगे आप? काली, राम गंगा, सरयू व धौली गंगा? इसके आगे सरकने के लिये शायद आपको काफी सोचना पड़े। पिण्डर निकलती जरूर कुमाऊँ से है पर कर्णप्रयाग में आ कर अलकनन्दा से मिल जाती है। ऐसे में यदि कुमाऊँ की सदाबहार या ग्लेश्यिर से निकलने वाली नदियों की बात की जाये तो शायद प्रश्न ज्यादा ही कठिन हो जाये।

गढ़वाल में काफी नदियाँ हैं; शायद इसी के कारण इस क्षेत्र में भूमिगत जल के दोहन पर अपेक्षाकृत ज्यादा ध्यान न दिया गया हो पर सदाबहार नदियों से वंचित कुमाऊँ में रह रहे लोगों ने इस विषय पर काफी गम्भीरता से काम किया। वहाँ आपको और कुछ मिले या न मिले हर शहर–गाँव में कई नौले अवश्य मिल जायेंगे।

3.4.1 नौला: नौला मतलब कम गहरा कुवाँ। पहाड़ों में प्राय: देखी जा सकने वाली इन संरचनाओं की गहरायी कोई 5–7 फीट के करीब होती है और इसे बनाने के लिये खोदे गये वर्गाकार गड्ढे के चारों तरफ से होती हुयी पत्थरों की सीढ़ियाँ इसके तल तक जाती हैं। खोदे गये गड्ढे के चारों तरफ से

चित्र 7 - पानी का परम्परागत स्त्रोत; नौला

धीरे-धीरे रिस कर आने वाला पानी पत्थरों से बनी वर्गाकार व सीढ़ीदार संरचना में जमा होता रहता है। ऊपर छत होती है ताकि इधर-उधर से उड़ कर आने वाली गन्दगी पानी को खराब न कर सकें। साथ में पानी के सुरक्षित उपयोग व निस्तारण के लिये चबूतरा व अन्य व्यवस्थायें भी होती हैं।

ज्यादातर नौलों में किसी न किसी स्थानीय देवी-देवता की स्थापना भी की गयी होती है और वहाँ पर नियमित रूप से पूजा-अर्चना की जाती है। अभी हाल तक समुदाय के सभी परिवार बारी-बारी से इन नौलों की साफ-सफाई व रख-रखाव

किया करते थे। तब इसके लिये किसी को बताने या कहने की जरूरत नहीं पड़ती थी।

इसी क्रम में विशेष रूप से कुमाऊँ क्षेत्र में नौलों के निर्माण से जुड़ी कई विशिष्ट शैलियों का विकास हुवा और आज भी चम्पावत, अल्मोड़ा व अन्य स्थानों में स्थित नौले यहाँ के कुशल कारीगरों द्वारा पत्थर में की गयी नक्काशी का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

नौलों के द्वारा निश्चित ही सतह के नजदीक स्थित भूमिगत जल का दोहन किया जाता है पर इसके लिये भी तो उपयुक्त स्थान का पता लगाने के लिये कुछ नियमों का होना जरूरी है। वैज्ञानिक ज्ञान, तर्क शक्ति और सूचनाओं की प्रचुरता के

चित्र 8 – नौले की आन्तरिक सीढ़ीदार संरचना

चित्र 9–चम्पावत में कुशल कारीगरों द्वारा नौले की दीवारों में की गयी नक्काशी

कारण कई बार हमें लगता है कि यह सब करने के लिये किसी विशेष ज्ञान या कौशल की आवश्यकता नहीं है, पर यह सच नहीं है।

आज हमारे द्वारा पहाड़ों में लगाये जा रहे हैण्ड पम्प भी नौलों की ही तरह सतह के नजदीक स्थित भूमिगत जल का दोहन करते हैं। ऐसे में इन हैण्ड पम्पों को लगाने के लिये स्थान का चयन करने के लिये उपयोग में लायी जा रही तकनीक व विशेषज्ञता के साथ ही इनके विकास, निर्माण व रख–रखाव पर होने वाले व्यय तथा निर्मित हैण्ड पम्पों की सफलता व उपयोगिता की विवेचना आपको यहाँ के लोगों के भूमिगत जल

को उपयोग में लाने के ज्ञान व कौशल का मुरीद बना देगी। ऐसे में शायद आप इन लोगों के द्वारा भूमिगत जल का पता लगाने के लिये उपयोग में लायी जाने वाली तकनीक पर नये सिरे से अध्ययन व शोध करने को भी सहज ही राज़ी हो जायें।

3.4.2 पहाड़ों में गहरे कुँवे: पहाड़ों में भूमिगत जल के उपयोग के परिप्रेक्ष्य में इस महत्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि यहाँ के लोग केवल सतह से कम गहरायी पर स्थित पानी के भण्डारों का ही पता लगा पाने में सक्षम नहीं थे।

यहाँ इस क्षेत्र में पहाड़ी के एकदम ऊपर बसे अल्मोड़ा और

चित्र 10 – अल्मोड़ा में स्थित कुँवा

नागथात में आज भी देखे जा सकने वाले गहरे कुँवे बताते हैं कि यहाँ के निवासियों ने भूमिगत जल का पता लगाने की काफी उन्नत तकनीक विकसित कर ली थी। इसके बिना इस पहाड़ी क्षेत्र में इस प्रकार के गहरे व उत्पादक कुँवे खोद पाना आज भी सम्भव नहीं है। इसके आधार पर सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ के लोग भूमिगत जल का पता लगाने की तकनीक जानते थे। अब वह तकनीक क्या थी और यह लोग ऐसा कैसे करते थे इसका पता लगाने की जिम्मेदारी हमारी है।

3.5 भूमिगत जल एवं पहाड़ों में मानव निवास का विस्तार

भूमिगत जल का पता लगाने और उसके दोहन का विज्ञान या कला; अब आप इसे कुछ भी कहें पर यहाँ के लोगों की यह खोज इस क्षेत्र में मानव निवास के विस्तार के लिये मील के पत्थर से कम नहीं थी। इसके बिना यहाँ मानव बसावत के विस्तार को कभी भी गति नहीं मिल पाती। इसने इस क्षेत्र में सभ्यता के विकास व मानव बसावत के भौगोलिक विस्तार को अचानक एक नयी दिशा दे दी।

इस खोज को एक महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में याद करना

और इसके लिये यहाँ के निवासियों का आभार व्यक्त करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इस खोज ने यहाँ पहाड़ों में लोगों को नदी-नालों व गाड़-गधेरों के किनारे बसने की बाध्यता से मुक्त कर दिया। इसके बिना अल्मोड़ा, पौड़ी, पिथौरागढ़, जोशीमठ या गोपेश्वर जैसे स्थानों में मानव निवास कभी भी सम्भव नहीं हो पाता।

3.6 जल स्त्रोत व हमारी मान्यतायें

गौर करने पर आप पायेंगे कि हमारे यहाँ जन्म से मृत्यु तक का हर संस्कार किसी न किसी रूप में पानी के स्त्रोत से जुड़ा है। अब विवाह के बाद नवव्याहता को पूजा-अर्चना के लिये जल स्त्रोत तक तो आज भी ले जाया जाता है। शायद यह निरन्तरता का प्रतीक है; जिस तरह जल स्त्रोत लगातार जीवन दे रहा है उसी प्रकार नवव्याहता इसका आर्शीवाद ले कर परिवार को निरन्तरता दे पाये। शायद मूल भावना यही रही हो।

कारण जो भी हो, इस सब से इन जल स्त्रोतों के प्रति समाज में सम्मान व आदर तो उपजा ही। फिर इसी के कारण इनका नियमित रख-रखाव व सफाई भी सुनिश्चित हो पायी। गाँव में निर्धारित क्रम के अनुसार नियमित रूप से सभी परिवार इनकी

साफ–सफाई अभी हाल तक करते ही थे।

शायद पहाड़ी के ऊपरी जल संग्रहण क्षेत्र में जमीन के अन्दर गये पानी के सोतों या धारों के रूप में निचली ढाल पर निकलने के सच को जानने के कारण ही इन लोगों ने पहाड़ों में, विशेष रूप से ऊपरी क्षेत्रों में, साफ–सफाई को ले कर कई प्रतिबन्ध लगाये थे और हो सकता है सुबह के समय आपको ऊपर की ओर जाते देखने पर कोई बड़ा–बूढ़ा आपको टोक भी दे।

रख–रखाव हम आज करें या न करें पर धार्मिक मान्यता व परम्परा से जुड़ा होने के कारण हम पानी के स्त्रोत के नजदीक गंदगी करने से तो आज भी परहेज़ करते ही हैं। अब निर्मल गंगा की सार्वभौमिक स्वीकार्यता के लिये विज्ञापन व जन–जागरूकता का हमें इससे बेहतर कोई दूसरा प्रतीक तो मिलने से रहा।

भू–स्खलन प्रबन्धन

भू–स्खलन पहाड़ों में होने वाली एक स्वाभाविक घटना है और इसके होने में कुछ भी अनोखा नहीं है। तकनीकी परिभाषा की बात करें तो पृथ्वी की सतह पर स्थित मिट्टी, मलबा, पत्थर व चट्टानों का गुरूत्वाकर्षण के अधीन ढाल पर खिसकना भू–स्खलन है। यह चट्टानों के नये सिरे से टूटने या फिर पहले से टूटी हुयी चट्टानों के खिसकने के कारण उत्पन्न हो सकते हैं और इनमें पानी व मलबे की मात्रा कम या ज्यादा हो सकती है। पानी की उपस्थिति का भू–स्खलन में विशेष भूमिका है और यही कारण है कि ज्यादातर भू–स्खलन मानसून की अवधि में ही होते हैं।

जल चक्र की बारीकियों की विवेचना करते–करते अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर यहाँ के लोग निश्चित ही यह भी समझ गये होंगे कि क्षेत्र में पानी की अधिक उपस्थिति ही भू–स्खलन का प्रमुख कारण है और पानी को परिदृश्य से बाहर कर देने या नियंत्रित कर देने से भू–स्खलन पर काबू पाया जा सकता है।

यह यहाँ के लोगों द्वारा की गयी विभिन्न खोजों में से एक है और वर्तमान में वैज्ञानिकों को निश्चित ही इस पक्ष पर विशेष

रूप से ध्यान देना चाहिये कि कैसे अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर यहाँ के लोग क्षेत्र विशेष की भू-स्खलन से प्रभावित हो सकने की सम्भावना का आंकलन कर सकने में सक्षम हो गये थे।

4.1 जंगल गूल

पूरे आत्मविश्वास के साथ कह पाना कठिन है कि यहाँ के निवासियों ने भू-स्खलन से प्रभावित हो सकने वाले स्थानों का पता लगाने की कला विकसित कर ली थी और हो सकता है उन्होंने ऐसा पूर्व में क्षेत्र में आये भू-स्खलनों के आधार पर किया हो। खैर किया जैसे भी हो पर उनके द्वारा कुछ विशेष स्थानों पर किये गये सुरक्षात्मक उपायों के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि यह लोग भू-स्खलन के प्रति संवेदनशील ढालों को चिन्हित कर सकते थे।

पानी की उपस्थिति व भू-स्खलन के बीच के रिश्ते की समझ के आधार पर यह लोग चिन्हित भू-स्खलन सम्भावित क्षेत्र में पानी की उपस्थिति को नियंत्रित करने के लिये इस क्षेत्र के ऊपरी पहाड़ी भाग में लगभग क्षैतिज विन्यास वाली जंगल गूल बनाया करते थे।

गूल का मतलब कच्ची नहर है और पहाड़ के ऊपरी जंगल वाले इलाके में बनायी जाने वाली इस गूल की सतह से पानी के रिसाव को कम करने के लिये पत्थर बिछाये जाते थे और यह गूल वर्षा के पानी को सीधे नजदीकी बरसाती नाले में निस्तारित कर देती थी जिसके कारण ऊपरी पहाड़ी ढाल से बह कर आने वाला वर्षा का ज्यादातर पानी प्रश्नगत संवेदनशील क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर पाता था। इससे उस क्षेत्र में भूमिगत जल का दबाव एक सीमा के अन्दर बना रहता था और भू-स्खलन की सम्भावना कम हो जाती थी।

इन जंगल गूलों की देख-रेख, मरम्मत व रख-रखाव परम्परा व मान्यता के अनुसार समाज के द्वारा ही आपस में मिलजुल कर किया जाता था और विशेष रूप से बरसात से पहले इनकी साफ-सफाई की जाती थी। उस समय यह गूलें अपना काम बखूबी कर रही थी। आज भी इन संरचनाओं के अवशेष रूद्रप्रयाग जनपद की कालीगंगा व मध्यमहेश्वर घाटियों में कालीमठ व रांसी के आस-पास देखे जा सकते हैं।

रूद्रप्रयाग जनपद में 1998 में मध्यमहेश्वर व कालीगंगा घाटियों में हुवे भू-स्खलनों को जंगल गूल बनाने की इस परम्परा के विभिन्न कारणों से अव्यवस्थित हो जाने और इनके रख-रखाव की व्यवस्था न होने से जोड़ कर देखना आज किये

जा रहे भू-स्खलन सम्बन्धित शोध का एक नया पक्ष हो सकता है।

4.2 सीढ़ीदार खेत:

कई बार हमें लगता है कि पहाड़ों में हमेशा से ही सीढ़ीदार खेत रहे होंगे। हम भूल जाते हैं कि खेती के लिये ही क्यों न हो पर यहाँ के लोगों ने कठिन मेहनत कर के, विशेष रूप से स्थिर हो गये पुराने भू-स्खलन क्षेत्रों में, पहाड़ी ढाल को सीढ़ीदार खेत

चित्र 11 - पहाड़ी ढलानों को स्थिरता प्रदान करते सीढ़ीदार खेत

के रूप में विकसित किया है।

आज भी ढाल को सीढ़ीदार स्वरूप देना भू-स्खलन के उपचार का एक प्रमुख व अत्यन्त प्रभावी उपाय है और हो सकता है कि आज के इंजीनियरों ने यह सब पहाड़ में रहने वाले लोगों से ही सीखा हो। यहाँ के लोगों द्वारा बनाये गये सीढ़ीदार खेतों से और कुछ हुवा हो या नहीं पर इनसे इन संवेदनशील ढालों को स्थिरता तो अवश्य ही मिली।

पानी की अधिकता एवं ढाल की स्थिरता के बीच के सम्बन्ध को भली भाँति समझने वाले यहाँ के लोग जानते थे कि पानी के जमा होने के कारण संवेदनशील ढाल पर स्थित उनके खेत असंतुलित व क्षतिग्रस्त हो सकते हैं। शायद इसी समझ की वजह से यह लोग घर से दूर स्थित उन खेतों में मेढ़ नहीं बनाते थे जिनकी देख-रेख कर पाना बरसातों में सम्भव न हो।

घर से दूर स्थित इन खेतों का ढाल भी प्रायः बाहर की ओर या ढाल की दिशा में ही रखा जाता था ताकि वर्षा का पानी खेतों में जमा न हो सके और उसका सहज निस्तारण हो जायें।

भू-स्खलन प्रबन्धन में सीढ़ीदार खेतों के महत्व को इस तथ्य से सहज ही समझा जा सकता है कि वर्तमान में पलायन के कारण पहाड़ के कई क्षेत्र लगभग आबादी-विहीन से हो चले

चित्र 12 - भू-स्खलन के उपचार हेतु ढाल को दिया गया सीढ़ीदार स्वरूप

हैं। इसके कारण खेती-बाड़ी वाला काफी बड़ा इलाका आज बंजर हो गया है। जब खेती ही न हो तो खेतों का रख-रखाव करें भी तो कौन और क्यों?

ऐसे में समय की मार झेल रहे व टूट गये सीढ़ीदार खेतों के पुश्तों के पीछे जमा मिट्टी के बारिश की स्थिति में तेजी से बहने पर प्रायः कुछ ही दूरी में यह बहाव भू-स्खलन का कारण बन जाता है। अपने घनत्व व गति के कारण यह बहाव ढाल पर तेजी से कटाव करता है और जल्द ही बड़े भू-स्खलन का रूप ले लेता है। यदि इन सीढ़ीदार खेतों का नियमित

रख-रखाव हो रहा होता तो शायद यह क्षेत्र पूर्व में घटित इस प्रकार के कई भू-स्खलनों व उनसे हुवे विनाश से मुक्त होता।

4.3 बसावत का प्रारूप

गौर से देखने तथा यहाँ पहाड़ों में मानव निवास के परम्परागत विन्यास की विवेचना करने पर कुछ अजीब सा प्रारूप नजर आता है। यहाँ खेती प्राय: नदी-नालों व गाड़-गधेरों के किनारे तथा पहाड़ी ढाल के बीच वाले भाग में की जाती है और पानी के प्राकृतिक स्त्रोत भी ज्यादातर पहाड़ी ढाल के बीच में या फिर नीचे ही स्थित होते हैं। परन्तु इसके बाद भी ज्यादातर स्थितियों में यहाँ मानव बसावत पानी व खेती से दूर पहाड़ के ऊपरी ढाल पर ठोस चट्टानी इलाके में होती है।

शायद यहाँ के लोगों ने अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर मानव बसावत के लिये उपयुक्त व सुरक्षित स्थानों का चयन करना सीख लिया था। पहाड़ का यह ऊपरी ढाल वाला क्षेत्र न तो भू-स्खलन से प्रभावित होता है और न ही बाढ़ से। यहाँ बसने का निर्णय लेने वाले यह लोग जानते हों या न जानते हों पर अपने तकनीकी ज्ञान के आधार पर आज हम जानते हैं कि चट्टानों के ऊपर बसने से भूकम्प का जोखिम भी

चित्र 13 – पहाड़ों में मानव निवास का विन्यास

अपेक्षाकृत कम होता है। फिर ईसा पूर्व 350 में अरस्तू (Aristotle) ने भी इस सच का पता लगा ही लिया था। ऐसे में हमारे पास यहाँ के लोगो के ज्ञान पर प्रश्नचिन्ह लगाने की कोई औचित्यपूर्ण वजह नहीं है।

गौर करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमारे ठीक विपरीत यहाँ के लोगो ने सुविधा की अपेक्षा सुरक्षा को प्राथमिकता दी थी। उन्हें खेती और पानी के लिये रोज कठिन परिश्रम करना तो स्वीकार था पर नदी–नालों व गाड़–गधेरों के नजदीक बस कर अपने समुदाय के भविष्य को खतरे में डालना नहीं।

भू-स्खलन व बाढ़ से सुरक्षा के साथ ही ऊँचे स्थान पर बसने का अशांति व परस्पर लड़ाई-झगड़े वाले दौर में सामरिक महत्व भी अवश्य ही रहा होगा। यहाँ से दूर तक एक बड़े इलाके में होने वाली गतिविधियों पर सहज ही नजर जो रखी जा सकती थी और किसी भी दुश्मन के लिये इन ऊँचे इलाकों तक पहुँच पाना भी तो सरल नही था। फिर ऊँचाई वाले स्थान से सुरक्षा के लिये भी काफी प्रभावी कदम उठाये जा सकते थे। यहाँ से नीचे की ओर लुढ़कने वाला छोटा सा पत्थर भी दुश्मन का काफी नुकसान कर सकता था।

इसी प्रकार बरसात के मौसम में ऊँचे इलाकों में किया जाने वाला मौसमी प्रवास इन लोगों को बाढ़ व भूस्खलन दोनों से ही बचाता था।

भूकम्प सुरक्षा

पृथ्वी की सतह पर अचानक महसूस होने वाले कम्पनों को हम भूकम्प या भूचाल कहते हैं। उत्तराखण्ड के लोग स्थानीय भाषा में इसे चलक कहते हैं जिसका तात्पर्य है कि यह लोग भूकम्प के झटके प्रायः महसूस करते रहे हैं और भूकम्प इस क्षेत्र के लिये कोई नयी घटना नहीं है। वर्तमान में हम जानते हैं कि भारतीय व यूरेशियाई भूखण्डों की सीमा के समीप स्थित होने तथा भारतीय भूखण्ड के उत्तर–उत्तरपूर्व की ओर गतिमान होने के कारण हिमालयी क्षेत्र भूकम्प के प्रति अत्यन्त संवेदनशील है।

परिमाण, केन्द्र की गहरायी व क्षेत्र की भू–वैज्ञानिक संरचना के आधार पर भूकम्प कम या ज्यादा क्षेत्र को प्रभावित करता है पर भूकम्प मारता किसी को नहीं; मारते है तो कमजोर घर और यही आज भी भूकम्प सुरक्षा का मूल मंत्र है। अतः घरों या अवसंरचनाओं का भूकम्प की स्थिति में सुरक्षित रहना सुनिश्चित करना ही आज भी भूकम्प से बचने का सबसे प्रभावी तरीका है।

उत्तराखण्ड के भूकम्प संवेदनशील क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों ने अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर इस क्षेत्र में

आसन्न भूकम्प के खतरे को हमसे कहीं ज्यादा अच्छी तरह से समझा और इससे बचने के लिये अत्यन्त प्रभावी रणनीति भी विकसित की। भूकम्प सुरक्षा के उपरोक्त मूलभूत नियम को आत्मसात करते हुवे इन लोगों ने अपना पूरा ध्यान यहाँ बनने वाले भवनों को भूकम्प सुरक्षित बनाने पर केन्द्रित किया और इस क्षेत्र के लिये सर्वथा उपयुक्त भूकम्प सुरक्षित भवन निर्माण प्रणाली का विकास किया।

5.1 बहुमंज़िला भवनों की विरासत

यह तथ्य अत्यन्त रोचक है कि भूकम्प संवेदनशील क्षेत्र में स्थित होने पर भी परम्परागत रूप से उत्तराखण्ड में बहुमंज़िला

चित्र 14 – पहाड़ों के परम्परागत भवन

भवन ही बनाये जाते हैं और गौशाला या छानी को छोड़ कर आप यहाँ आज भी एक मंजिला परम्परागत भवन शायद ही ढूँढ पायें।

यहाँ की दोनों ही स्थानीय भाषाओं में भवन की चार मंजिलों के लिये अलग-अलग शब्द भी तो हैं; कुमायूँनी में यह गोठ, चाक, पान व छज है तो गढ़वाली में कोटी, मंजुआ, बौन्ड व बौरार। आज भी यमुना घाटी के कई गाँवों में चार-पाँच मंज़िला भवन बहुतायत में देखें जा सकते हैं और यहाँ के लोग इन्हें चौखट व पंचपुरा कहते हैं।

अब बिना आवश्यकता के किसी भाषा में शब्द तो सम्मिलित होते नहीं हैं। अब रेलगाड़ी व रिवाल्वर की हमें जरूरत नहीं थी तो हिन्दी में इनके लिये उपयुक्त शब्द नहीं हैं। बहुमंज़िला भवन इस क्षेत्र में आम न होते तो घर की अलग-अलग मंज़िलों के लिये प्रयुक्त होने वाले यह विशिष्ट शब्द कभी भी यहाँ की स्थानीय भाषा के शब्दकोश का हिस्सा नहीं बन पाते।

थोड़ा ध्यान दीजिये। हो सकता है आपके पास-पड़ोस के क्षेत्र में भी मकान की अलग-अलग मंज़िलों के लिये कुछ विशिष्ट शब्दों का उपयोग किया जाता हों।

किसी भी भवन की ऊँचाई बढ़ने के साथ उसमें संरचनात्मक

चित्र 15 – परम्परागत भवनों में की गयी नक्काशी

संतुलन से जुड़ी कई समस्यायें उत्पन्न होने लगती हैं और ऐसे में गुरूत्वाकर्षण के केन्द्र को जमीन के नजदीक रखने के लिये विशिष्ट उपाय करने जरूरी हो जाते हैं। इन उपायों के बिना ऊँची अवसंरचनायें छोटे से भूकम्प में ही धराशायी हो जायेगी।

आज अपनी भूकम्प सुरक्षित निर्माण सम्बन्धित समझ के आधार पर हम यह जानते हैं कि भूकम्प की स्थिति में इन ऊँचे भवनों को पृथ्वी की सतह के समानान्तर लगने वाले अतिरिक्त बलों का सामना करना पड़ता है और इन बलों के सुरक्षित जमीन तक हस्तान्तरित न हो पाने की स्थिति में सम्भव है कि यह संरचनायें भरभरा कर गिर पड़े।

चित्र 16 – यमुना घाटी का एक बहुमंजिला भवन

अब यहाँ 1,000 से भी ज्यादा वर्ष पहले बने बहुमंजिला भवन आज भी खड़े हैं तो इन भवनों ने निश्चित ही कई बड़े भूकम्पों का सामना किया होगा और यहाँ 1,000 साल यूँ ही नहीं कहा जा रहा है। यह अवधि यहाँ बने बहुमंजिला भवनों के निर्माण

में प्रयुक्त लकड़ी के रेडियोकार्बन परीक्षणों पर आधारित है। सैकड़ों किलोमीटर दूर दिल्ली तक में नुकसान पहुँचाने वाले 01 सितम्बर, 1803 के विनाशकारी गढ़वाल भूकम्प में इन भवनों का सुरक्षित रहना यह सिद्ध करने के लिये काफी है कि यहाँ के लोग भूकम्प सुरक्षित निर्माण की कला जानते थे।

5.2 भूकम्प सुरक्षा की समझ

आज भी भूकम्प सुरक्षा की बात करते समय सबसे पहले जो बात बतायी या पढ़ायी जाती है वह यह है कि भूकम्प किसी को नहीं मारता, मारते हैं तो कमजोर घर। यह एक सार्वभौमिक सच है कि आज तक भूकम्प के कारण मारे गये लाखों लोगों में से शायद ही किसी एक को भूकम्प ने मारा हो। सारे के सारे लोग धरती के हिलने के कारण गिरने वाले घरों व अन्य संरचनाओं के कारण ही मारे गये या घायल हुवे। ऐसे में यदि ऐसी संरचनायें बनायी जाये जो भूकम्प के कारण गिरे ही नहीं; तब तो शायद भूकम्प की वजह से कोई नुकसान भी न हो।

भूकम्प सुरक्षित भवन निर्माण; यह आज भी भूकम्प सुरक्षा का मूल मंत्र है और यहाँ के लोग अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के बल पर भूकम्प सुरक्षा से जुड़े इस सच को अच्छी तरह से जान

व समझ गये थे। तभी तो उन्होंने इस भूकम्प संवेदनशील क्षेत्र में अपने समुदाय की सुरक्षा व निरन्तरता बनाये रखने के लिये भूकम्प सुरक्षित भवन निर्माण की कला (या विज्ञान) के विकास पर अपना सारा ध्यान, ज्ञान व कौशल लगा दिया था। यह उनके द्वारा विकसित की गयी निर्माण विधा ही है जिसके कारण यहाँ बने बहुमंज़िला भवन न जाने कितने भूकम्पों के आ जाने के बाद भी आज तक शान से खड़े हैं।

5.3 भूकम्प सुरक्षित निर्माण की कला का विकास

परम्परागत भवनों पर किये गये अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि किये गये प्रयोग, अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर यहाँ के लोगों ने भूकम्प सुरक्षित भवन निर्माण के 05 मूलभूत नियम विकसित कर लिये थे।

5.3.1 पहला नियम - सही जगह पर बसो: यहाँ के लोगों ने खेती-बाड़ी तो नदी-नालों व गाड़-गधेरों के किनारे जरूर की पर यह लोग कभी भी वहाँ पर बसे नहीं। पानी के स्त्रोत के प्राय: पहाड़ की निचली ढाल पर होने पर भी बसने के लिये ज्यादातर स्थितियों में इन लोगों ने ऊपरी ढाल

चित्र 17 - ऊपर बसावत व नीचे खेती

पर मजबूत चट्टानी स्थान को ही चुना।

खेती-बाड़ी व पानी के लिये इन लोगों को रोज लम्बी दूरी तय करना तो मंजूर था पर समुदाय की सुरक्षा के साथ समझौता करना नहीं। इन लोगों ने ऐसा शायद भू-स्खलन व बाढ़ से बचने के लिये किया हो पर अनजाने ही सही, लिये गये इस फैसले का फायदा इन लोगों को भूकम्प से बचाव में भी हुवा।

आज हम जानते हैं कि ठोस चट्टानों वाले इलाके में भूकम्प का अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ता है। बहुत सम्भव है कि यहाँ

के निवासी इस सच को न जानते हों परन्तु यह भी तो हो सकता है कि ग्रीक विचारक व वैज्ञानिक अरस्तू की ही तरह यहाँ के लोगों ने भी पता लगा लिया हो कि भूकम्प की तीव्रता चट्टानी इलाकों की अपेक्षा भुरभुरी जमीन वाले इलाकों में ज्यादा होती है। अरस्तू ने ऐसा ईसा पूर्व 350 में बता दिया था।

खैर जो भी हो, पहाड़ी ढाल पर ठोस, चट्टान वाले स्थानों पर बसने से यहाँ के लोगों को भूकम्प से भी एक सीमा तक सुरक्षा तो मिली ही। हाँलाकि वह इतने भर से संतुष्ट नहीं थे।

भूकम्प हो या कोई और आपदा; सुरक्षित रहने के लिये सबसे ज्यादा जरूरी है कि बसने के लिये सही स्थान का चयन किया जाये। आज भी हम निर्माण कार्यों से जुड़े ज्यादातर निर्णय लेने से पहले प्रायः प्रस्तावित निर्माण स्थल की भू-वैज्ञानिक स्थिरता व धारण क्षमता (bearing capacity) की जाँच करवाते है। इसके लिये हम प्रस्तावित निर्माण स्थल की मिट्टी के नमूने जाँच के लिये विभिन्न संस्थानों में स्थित प्रयोगशालाओं को भेजते है।

यहाँ के लोग भी कुछ-कुछ ऐसा ही किया करते थे और प्रस्तावित निर्माण स्थल की मिट्टी कुछ चिन्हित विशेष व्यक्तियों को दिखाते थे। यह लोग अपने अनुभव व अर्जित

ज्ञान के आधार पर मिट्टी के भौतिक गुणों जैसे नमी, भुरभुरापन, हथेली पर एहसास, रंग, गंध आदि को परख कर निर्माण हेतु स्थान की उपयुक्तता के सम्बन्ध में परामर्श दे सकने में सक्षम थे। यह सलाह निश्चित ही परिष्कृत या आधुनिक तकनीकों व उपकरणों के उपयोग के बिना दी जाती थी पर इनके द्वारा बताया स्थान की धारण क्षमता व निर्माण हेतु उपयुक्तता के बारे में ही था।

यह कुछ-कुछ नब्ज या नाड़ी देख कर रोग का पता लगाने जैसा ही है। जाँच व परीक्षण के लिये अत्याधुनिक व परिष्कृत तकनीक व उपकरण होने पर भी जब हम आज भी नाड़ी देख कर उपचार करने की पद्धति को एकदम से पूरे विश्वास के साथ नकार सकने की स्थिति में नहीं है तो फिर निर्माण के स्थान की मिट्टी देख कर परामर्श देने की यहाँ के लोगों की परम्परा पर विश्वास न करने का हमारे पास कोई ठोस व औचित्यपूर्ण कारण नहीं है।

हम इस सब पर विश्वास करें या न करें पर इस महत्वपूर्ण विषय पर शोध व अध्ययन तो कर ही सकते हैं। हो सकता है इससे हमें कुछ नया जानने को मिल जाये। यह भी हो सकता है कि इससे हमें प्रायः होने वाले छोटे निर्माण कार्यों के लिये चुने गये स्थान की उपयुक्तता तय करने का सस्ता, सरल व सहज

विकल्प ही मिल जाये।

5.3.2 दूसरा नियम - पक्की बुनियादः निर्माण के लिये उपयुक्त स्थान के चयन के बाद नम्बर आता है बुनियाद या नींव का और किसी भी भवन की संरचनात्मक सुरक्षा में बुनियाद की प्रमुख भूमिका होती है।

किसी भी सरंचना की ऊँचाई बढ़ने के साथ उसके गुरूत्वाकर्षण का केन्द्र (centre of gravity) तथा भार का

चित्र 18 - भवन को मजबूत आधार देने के लिये बनाया गया चबूतरा

केन्द्र (centre of mass), दोनों ही पृथ्वी की सतह से ऊपर उठने लगते हैं जिसके कारण उसमें संरचनात्मक असंतुलन उत्पन्न होने लगता है। ज्यादातर स्थितियों में अभियन्ता बुनियाद का उपयोग इस असंतुलन से पार पाने के लिये करते हैं।

आज भी विशेष रूप से ऊँची संरचनाओं के निर्माण में बुनियाद से सम्बन्धित पक्ष पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इन संरचनाओं में प्रायः प्रयुक्त होने वाली राफ्ट व पाइल आधारित बुनियाद के बारे में आपने सुना ही होगा।

यहाँ के लोग अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई वाले भवनों को पत्थर के ऊँचे व भारी चबूतरे के ऊपर बनाते थे। ठोस पत्थरों से बना यह चबूतरा पत्थरों से भरी गयी बुनियाद का ऊपरी भाग

चित्र 19 – पत्थर के ऊँचे चबूतरे पर बने भवन

चित्र 20 – खिड़कियों के चारों ओर अतिरिक्त सुदृढ़ीकरण

होता था परन्तु चट्टानों के सतह के नजदीक होने पर चबूतरे का निर्माण सीधे इन चट्टानों के ऊपर भी किया जाता था। संरचना के एकदम नीचे भारी चबूतरा होने के कारण इन ऊँचे भवनों के गुरूत्वाकर्षण का केन्द्र तथा भार का केन्द्र, दोनों ही जमीन के अपेक्षाकृत नजदीक रहते थे। इस प्रकार इन ऊँचे भवनों की भूकम्प के झटकों के कारण पलट कर गिर जाने की सम्भावना कम हो जाती थी।

यह लोग सामान्यतः बनने वाले कम ऊचाई के भवनों की बुनियाद को ठोस व स्थिर चट्टानों (दल) के मिलने तक

खोदते थे और साथ ही उसे निर्माण कार्य आरम्भ करने से पहले 1–2 बरसातों के लिये खुला छोड़ देते थे ताकि जमीन का जितना धँसाव होना हो वह निर्माण कार्य आरम्भ करने से पहले ही हो जायें।

शायद यही कारण है कि आज के भवनों की तरह यहाँ के परम्परागत भवनों में जमीन के समानान्तर पड़ने वाली दरारें (settlement cracks) देखने को नहीं मिलती है।

5.3.3 तीसरा नियम – भवन का प्रारूपः भूकम्प सुरक्षा की बात करने पर आज के अभियन्ता आपको बतायेंगे कि भूकम्प से सुरक्षा के लिये भवनों के प्रारूप का समरूप व सरल होना एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। शायद वह आपको भवनों का प्रारूप आयताकार या वर्गाकार रखने की सलाह भी दें।

साथ ही वह आपको निश्चित ही भवनों में खुले स्थानों को सीमित करने की सलाह भी देंगे। खुले स्थानों के कारण दीवारे कमजोर जो हो जाती हैं। इसीलिये तो दीवार में छोड़े गये खुले स्थानों के चारों ओर अतिरिक्त सुदृढ़ीकरण की व्यवस्था आज भी की जाती है।

चित्र 21 - दीवार के किनारे व व आर-पार लगाये गये विशिष्ट आकार के पत्थर

वैसे भी यदि सामान्यत: देखें तो दीवार में दरवाजे के अलावा हमें किसी अन्य खुले भाग की आवश्यकता ही नहीं होती है। सिद्धान्त: खिड़की की आवश्यकता हमें हवा व रोशनी के लिये होती है पर एक बार बन जाने के बाद हम इन दोनों को ही रोकने के लिये अलग-अलग तरह के उपायों पर निवेश करते हैं।

आपको शायद आश्चर्य हो पर यहाँ के लोग यही सब तो करते थे। इनके द्वारा बनाये गये भवनो का प्रारूप वर्गाकार होता था या फिर आयताकार और उनमें खिड़की व दरवाजे भी सीमित संख्या में व छोटे ही होते थे। इस सब के साथ यहाँ के लोग

चित्र 22 – पहाड़ों के परम्परागत घरों का सरल प्रारूप

दीवार के खुले भाग में अतिरिक्त सुदृढ़ीकरण की व्यवस्था भी करते थे।

यहाँ के परम्परागत घरों में खिड़की व दरवाजे के छोटा होने के कारण भूकम्प सुरक्षा के साथ ही ऊष्मा का संचय भी होता है जो विशेष रूप से पहाड़ों में रहने के लिये बनायी जा रही संरचनाओं की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। तभी तो आज बनने वाले घरों की अपेक्षा परम्परागत घर अपेक्षाकृत अधिक आरामदेहक होते हैं। आप चाहें तो यहाँ के परम्परागत भवनों को ऊर्जा कुशल (energy efficient) या सौर अनिवारक (solar passive) भी कह सकते हैं।

5.3.4 चौथा नियम - सटीक जोड़: यहाँ के लोग दीवार की चिनाई में विभिन्न आकार व नाप के पत्थरों का प्रवीणता से उपयोग करना भी सीख गये थे। इन लोगों के द्वारा दीवार के किनारे व आर-पार लगाये जाने वाले विशिष्ट आकार के पत्थर दीवार को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करते थे।

साथ ही निर्माण में उपयोग में आने वाले लकड़ी के अवयवों को जोड़ने के लिये यहाँ के लोग खाँचेदार व कील वाले, दोनों ही तरह के जोड़ का प्रवीणता से प्रयोग करते थे। यह सब इन लोगों के निर्माण कौशल को दर्शाते हैं और यहाँ के परम्परागत भवनों को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करते हैं।

चित्र 23 - लकड़ी में प्रयुक्त खाँचेदार व कील वाले जोड़

5.3.5 पाँचवा नियम - भूकम्पीय बलों का सुरक्षित निस्तारण: भूकम्प की स्थिति में संरचनाओं को कई प्रकार के अतिरिक्त बलों का सामना करना पड़ता है। इन बलों के प्रभाव संरचना के किनारों या दो अवयवों के जोड़ पर ज्यादा तीव्र होते हैं। सुरक्षित निस्तारण न हो पाने पर यह बल संरचना को ध्वस्त भी कर सकते हैं।

आज बनने वाली संरचनाओं की भूकम्प सुरक्षा सुनिश्चित करने व भूकम्प की स्थिति में भवन पर लगने वाले अतिरिक्त बलों के सुरक्षित जमीन तक हस्तान्तरण के लिये हम इनमें बीम व कॉलम के साथ-साथ भूकम्प पट्टिकाओं की व्यवस्था करते हैं। शायद भूकम्प सुरक्षा के लिये सामान्यत: उपयोग में लाये जाने वाले सिल, प्लिन्थ या लिंटल बीम के बारे में आपने पहले कहीं पढ़ा या सुना हो।

अपने अनुभव के आधार पर यहाँ के लोगों ने भूकम्पीय बलो का सुरक्षित निस्तारण सुनिश्चत करने के लिये लकड़ी के बीम को उपयोग में लाने की विधा में महारत हासिल कर ली थी।

लकड़ी के बीम के साथ ही यहाँ के लोग भूकम्प के समय भवन पर पृथ्वी के समानान्तर लगने वाले बलों (shear

चित्र 24 – भूकम्पीय बलों के सुरक्षित हस्तान्तरण हेतु लकड़ी के बीम का उपयोग

forces) के प्रभावों के निवारण के लिये अधिक ऊँचाई वाली संरचनाओं में कुछ विशिष्ट उपाय करते थे जिन्हें वैज्ञानिक व अभियन्ता शियर कीज (shear keys) कहते हैं।

आज हमारे अभियन्ता इन्हीं सब पक्षों को भूकम्प सुरक्षा के लिये आवश्यक बताते हैं और फिर यहाँ के लोगों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले लकड़ी के बीम मजबूत व लचीले होने के कारण आज के काँक्रीट के बीम-कॉलम से कहीं अधिक प्रभावी हैं।

चित्र 25 – पृथ्वी के समानान्तर लगने वाले बलों के प्रभावों को कम करने के प्रयुक्त शियर कीज

यह यहाँ के लोगों का निर्माण कौशल ही तो है कि अनेकों भूकम्प के झटके झेल लेने के बाद भी यहाँ के परम्परागत भवन आज भी शान से खड़े हैं।

5.4 परम्परा और विज्ञान की कसौटी

यहाँ के लोगों द्वारा उपयोग में लायी गयी निर्माण विधा का उनके स्वयं के पास कोई वैज्ञानिक आधार या तर्क था या नहीं, यह अवश्य ही विवाद का विषय हो सकता है परन्तु इतना जरूर है कि जो कुछ वह कर रहे थे वह आज भी विज्ञान की कसौटी पर खरा है।

ऐसे में यहाँ के लोगों की परम्पराओं को खोजने, सहेजने और उसमें छुपे वैज्ञानिक पक्षों को ढूँढने की एक बड़ी चुनौती हमारे सामने है और इस पर हमें अपेक्षित ध्यान देना चाहिये।

समय के साथ आये परिवर्तनों के साथ सैकड़ों सालों की मेहनत से विकसित की गयी इस निर्माण प्रणाली के मूलभूत नियम भुला दिये गये और परम्परागत घरों की मरम्मत पर भी ध्यान नहीं दिया गया। साथ ही इन लोगों के द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली पत्थर-लकड़ी के जोड़ व लकड़ी के सही उपयोग की तकनीक भी भुला दी गयी। नतीजे हम सब के

चित्र 26 – जीर्ण-क्षीर्ण अवस्था में पड़ा परम्परागत भवन

सामने हैं और आज यहाँ रह गये हैं तो परम्परागत से दिखायी देने वाले कमजोर घर!

फिर पता नहीं क्यों और कैसे पर समय के साथ आये बदलावों के साथ ईट व सीमेन्ट से बने लिन्टर वाले घरों को सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ कर देखा जाने लगा। शायद ऐसा प्रारम्भ में ईट-सीमेन्ट के घरों को समाज के अभिजात्य वर्ग के द्वारा बनाये जाने के कारण हुवा हो। फिर पर्यावरण की सुरक्षा के नाम पर यहाँ इस क्षेत्र में परम्परागत रूप से उपयोग में लायी जाने वाली निर्माण सामग्री के दोहन पर भी तो रोक लगा दी

गयी थी। वैसे तो भूकम्प सुरक्षित भवन निर्माण के लिये निर्माण सामग्री से कहीं ज्यादा जरूरी सही तकनीक का उपयोग है परन्तु इस क्षेत्र में भवन निर्माण सामग्री में आये परिवर्तन के साथ नयी निर्माण सामग्री के उपयोग की तकनीक के प्रचार-प्रसार पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया और कल तक पत्थर व लकड़ी से घर बनाने वाले राजमिस्त्री आधे-अधूरे व अधकचरे ज्ञान के साथ ईट-सीमेन्ट के घर बनाने व छतों पर लिन्टर डालने लगे। इससे समय बीतने के साथ इस क्षेत्र में भूकम्प का जोखिम लगातार बढ़ रहा है।

5.5 निर्माण कला का पोषण

अब भूस्खलन या बाढ़ की तरह भूकम्प रोज-रोज या हर साल तो आते नहीं हैं। ऐसे में सुरक्षा हेतु किये जा रहे उपायों और निर्माण विधा में लाये गये बदलावों के परिणामों को जाँचने के लिये लम्बा इन्तजार करने के अलावा यहाँ के लोगों के पास शायद कोई और विकल्प नहीं था।

अब केवल भूकम्प सुरक्षा हेतु इन लोगों के द्वारा किये गये उपायों के आधार पर एकदम से यह निष्कर्ष निकालना भी तो ठीक नहीं होगा कि यह लोग भवन का प्रतिरूप या मॉडल

बना कर उसे भूकम्प में लगने वाले झटकों की तरह हिला कर उसकी सुरक्षा का परीक्षण करने की विधा जानते थे!

ऐसे में भूकम्पों के बीच समय का लम्बा अन्तराल होने के कारण बहुत सम्भव है कि अगला भूकम्प आने पर निर्माण की बारीकियों व सुरक्षा हेतु लिये गये उपायों के बारे में जानने वाला कोई हो ही नहीं। इस स्थिति में निर्माण कार्य में किये गये परिवर्तनों के साथ ही अगले भूकम्प में इन भवनों को हुयी क्षति का विस्तृत अभिलेखीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। इसके बिना इस प्रकार के प्रयोग सम्भव ही नहीं हैं।

ऐसे में बड़ा प्रश्न यह है कि लम्बे अन्तराल के बाद आने वाले भूकम्प के घरों पर पड़ने वाले प्रभावों को जानने, आँकने व इसका अभिलेखीकरण करने और इसके आधार पर निर्माण विधि में बदलाव कर के बनाये गये घरों पर पड़ने वाले अगले भूकम्प के प्रभावों के अभिलेखीकरण के लिये इन लोगों ने क्या प्रक्रिया अपनायी थी?

मौखिक परम्परा के आधार पर इस तरह के प्रयोग कर पाना सम्भव नहीं है। सो यहाँ के लोगों ने निश्चित ही भूकम्प से हुवे विनाश व घरों के निर्माण से जुड़े तकनीकी पक्षों का लिखित अभिलेख रखा होगा। इन अभिलेखों को ढूँढना आज की हमारी

सबसे बड़ी चुनौती है।

आज आवश्यक हो जाता है कि निर्माण की इस परम्परा पर वैज्ञानिक शोध किया जाये और इसे वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जाये और साथ ही इसका समुचित प्रचार-प्रसार किया जाये।

बाढ़ सुरक्षा

नदी–नालों के जल संग्रहण क्षेत्र में होने वाली भारी या लगातार वर्षा के कारण बढ़ गये जल प्रवाह का नदी–नालों की सीमा का उल्लंघन करना ही बाढ़ है और ज्यादातर स्थितियों में हम बाढ़ को नदी–नालों के पानी के द्वारा हमारे द्वारा तय की गयी सीमा पर अतिक्रमण के रूप में देखते हैं। वैसे तो ढाल के कारण पहाड़ों में बरसात का पानी तेजी से बह जाता है परन्तु कुछ स्थितियों में नदी के नज़दीक के स्थानों की बाढ़ से प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है।

पहाड़ों में ज्यादातर खेती व पूजा–अर्चना के स्थानों के नदी के नजदीक होने पर भी यहाँ के लोग पता नहीं क्यों, पर कभी भी नदी–नालों के एकदम पास नहीं बसे। शायद अपने अनुभव के आधार पर वह जान गये थे कि यह स्थान सुरक्षित नहीं है। तभी तो यहाँ के लोग हमेशा ऊपरी या बीच की पहाड़ी ढाल पर मजबूत चट्टानों वाले इलाकों में ही बसे। हो सकता है उन्होंने ऐसा सामरिक सुरक्षा कारणों से किया हो पर नदी–नालों से सुरक्षित दूरी पर ऊँचे स्थानों पर बसने से उन्हें बाढ़ से भी सुरक्षा तो मिली ही।

आज के समय में बाढ़ के कारण क्षेत्र में होने वाली क्षति के परिमाण में लगातार हो रही वृद्धि को इस क्षेत्र में विगत कुछ दशकों में आये मानव निवास के विन्यास से जुड़े परिवर्तनों के आलोक में सहज ही समझा जा सकता है। विशेष रूप से सड़कों के नदी-नालों के नजदीक व समानान्तर अवस्थित होने के कारण पिछले कुछ समय में नदी-नालों के नज़दीक निर्माण व बसावत में काफी तेजी आयी है।

पहले जो स्थान मानव बसावत के लिये उपयुक्त नहीं समझे जाते थे आज उन पर कस्बे व शहर बस गये है। सड़क के नज़दीक के स्थान आवागमन के लिहाज से सुविधाजनक हैं और साथ ही यहाँ रोजगार के भी अनेकों अवसर हैं। फिर सड़क के नजदीक निर्माण कार्य करना अपेक्षाकृत सस्ता भी है। आज के समय में ज्यादातर निर्माण सामग्री मैदानी इलाके से लायी जाती है। ऐसे में सड़क से दूर निर्माण करने पर निर्माण सामग्री के ढुलान पर काफी व्यय करना पड़ता है।

पर नदी-नालों के नज़दीक स्थित यह बसावतें बाढ़ के लिहाज से अपेक्षाकृत ज्यादा संवेदनशील हैं। फिर विभिन्न कारणों से आज इस क्षेत्र में नदियों का तल तेजी से ऊपर उठ रहा है जिसके कारण कई नये क्षेत्रों में बाढ़ का खतरा बढ़ रहा है। उत्तरकाशी शहर इसका जीवंत उदाहरण है।

सुरक्षित व ऊँचे स्थानों पर निवास करने के साथ ही यहाँ के कुछ इलाकों में बरसात के मौसम में ऊँचाई वाले क्षेत्रों में प्रवास करने की परम्परा है जिससे बाढ़ व भू-स्खलन दोनों से ही सुरक्षा मिलती है।

खाद्य सुरक्षा

पहाड़ों में खेती–बाड़ी हमेशा से ही वर्षा पर आधारित रही है और आज भी यहाँ वर्षा के समय से न होने, कम या ज्यादा होने के कारण प्रायः फसल खराब हो जाती है। अभी हाल में 2008 व 2009 में मानसून के आने में हुयी देरी के कारण प्रदेश का काफी बड़ा भाग सूखे की चपेट में आ गया था।

यहाँ के लोगों ने भी इस परेशानी को निश्चित ही झेला होगा। ऐसे में उनके द्वारा खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिये पर्याप्त उपाय न किये गये होते तो उनका यहाँ बने रह पाना सम्भव नहीं हो पाता।

7.1 फसल प्रजाति

हमें प्रायः लगता है कि क्षेत्र में परम्परागत रूप से उगायी जाने वाली फसल की प्रजातियाँ यहाँ हमेशा से ही उगायी जा रही होंगी। पता नहीं क्यों, परन्तु हम यह स्वीकार करने में झिझकते हैं कि इन प्रजातियों का विकास करने के लिये यहाँ के लोगों ने प्रयास किये होंगे और यह प्रजातियाँ उनके द्वारा किये गये प्रयोगों व प्रयासों का नतीजा है।

क्षेत्र में पानी की सीमित उपलब्धता तथा ज्यादातर खेती के वर्षा पर निर्भर होने के कारण यहाँ के लोगों ने विशिष्ट प्रजनन विधियों का सहारा ले कर फसल की ऐसी प्रजातियाँ तैयार की जो पानी की कमी व मौसम की मार को झेल सके। यहाँ परम्परागत रूप से उगायी जाने वाली ऊखड़ धान, मंडुवा, झिंगोरा व दलहन फसलें इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। बारिश कम हो या ज्यादा इन फसलों से जीवन-यापन के लिये कुछ न कुछ तो मिल ही जाता है।

अब यह अलग बात है कि बाजार में ज्यादा माँग न होने के कारण आज ज्यादातर लोग इन फसलों को उगाना पसन्द नहीं करते हैं। आज हम जैव विविधता के नाम पर क्या कुछ नहीं कर रहे हैं। ऐसे में अपने इन प्रयासों के अन्तर्गत हम यहाँ की परम्परागत फसल प्रजातियों को तो बचा ही सकते हैं।

7.2 भू-प्रबन्धन

आज के चकबन्दी के दौर में पहाड़ों के भू-स्वामित्व के औचित्य को समझ पाना सरल नहीं है पर यहाँ के लोगों ने जान-बूझ कर अपनी खेती वाली जमीन का बँटवारा इस प्रकार किया कि हर परिवार को नदी किनारे के कुछ सिंचित खेतों या

सेरों के साथ ही कुछ ऊखड़ या असिंचित खेत भी मिले। परिवार चाहे कितना भी समृद्ध व प्रभावशाली क्यों न हो उसके हिस्से में केवल सेरे ही नहीं आये। फिर ज्यादातर स्थितियों में परिवार के हिस्से के सारे के सारे खेत भी तो एक ही जगह पर नहीं होते हैं।

इस प्रकार से किये गये जमीन के बँटवारे से यहाँ के लोगो ने यह सुनिश्चित किया कि एक जगह पर किसी कारण से फसल के खराब हो जाने की स्थिति में दूसरी जगह से गुजर - बसर के लिये कुछ अनाज (assured return) जरूर मिल जाये। यह खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने की यहाँ के लोगों की सोची-समझी रणनीति थी।

7.3 मिश्रित खेती

मिश्रित खेती (mixed cropping) का तात्पर्य एक ही स्थान पर एक साथ कई फसलें उगाने से है और यह विधि इस क्षेत्र में परम्परागत रूप में उपयोग में लायी जाती है। एक साथ लगायी जाने वाली इन फसलों के अलग-अलग ऊँचाई पर परिपक्व होने के कारण इस विधि से विभिन्न स्तरों पर उपलब्ध स्थान का पूरा उपयोग होता है। साथ ही एक साथ

लगाये जाने वाली यह फसलें एक-दूसरे के लिये लाभदायक स्थितियाँ भी उपलब्ध करवाती हैं जिससे उत्पादकता बढ़ती हैं।

इस विधि के अनुसार लगायी जाने वाली फसल प्रजातियों में विविधता होने के कारण कीट-पतंगों से होने वाली क्षति सीमित होती है व खर-पतवार में भी कमी आती है। इससे पूरी फसल के एक साथ खराब हो जाने की सम्भावना कम होती है और भू-क्षरण की दर में भी कमी आती है। साथ ही इससे मिट्टी में पोषक तत्वों का संतुलन भी बना रहता है।

बारानाजा इस क्षेत्र में प्राय: उपयोग में लायी जाने वाली मिश्रित खेती की परम्परागत विधि है जिसमें अनाज, दलहन, तिलहन, मसाले व सब्जियों की 12 प्रजातियाँ एक साथ उगायी जाती हैं। यह इस क्षेत्र के लोगों की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने की एक ऐसी परम्परागत विधि है जिससे आहार में पौष्टिकता व विविधता भी सुनिश्चित होती है।

7.4 फसल चक्र

फसल चक्र (crop rotation) का तात्पर्य एक ही स्थान पर बारी-बारी से अलग-अलग फसल उगाने से है। इससे मिट्टी की पोषक क्षमता में वृद्धि होती है।

इस क्षेत्र में परम्परागत रूप से प्रायः उपयोग में लायी जाने वाली तथा सारी कही जाने वाली फसल चक्र विधि में गाँव की खेती योग्य भूमि को दो भागों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक भाग से हर दो साल में तीन फसलें ली जाती हैं।

हर साल जाड़े के मौसम मे बारी-बारी से एक भाग को बंजर छोड़ दिया जाता है। इस मौसम में चारे की कमी होने के कारण यह भाग जानवरों के चरने के काम आता है तथा साथ ही इससे मिले गोबर के कारण भूमि की उर्वरता भी बढ़ती है।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत गाँव के सभी किसान एक समय में एक सी फसल ही उगाते हैं जिससे फसल की देख-रेख करना सरल हो जाता है।

7.5 खाद्य प्रसंस्करण

भौगोलिक व मौसम सम्बन्धित विषमता के कारण इस क्षेत्र में साल भर खेतों से होने वाली आपूर्ति के आधार पर भोजन में विविधता तथा पोषक तत्वों की उपस्थिति बनाये रखना एक बड़ी चुनौती है। इस परिस्थिति का सामना करने के लिये यहाँ रह रहे लोगों ने विशेष रूप से फल व सब्जियों के साथ ही जानवरों के मांस को लम्बे समय तक सुरक्षित रख कर उपयोग

में लाने की तकनीक विकसित कर ली थी। आपको शायद आश्चर्य हो पर यहाँ के कई दूर-दराज के गाँवों में आज भी पारम्परिक विधि से माँस को सुखाने के साथ ही उससे आज के सॉसेज (sausage) जैसे लज़ीज़ व्यंजन भी बनाये जाते हैं। फिर इससे पहाड़ों से हो रहे पलायन की दर में भी शायद कमी आये?

इसी के साथ भोजन में विविधता व पोषकता लाने के लिये यहाँ के लोगों ने विशेष रूप से विभिन्न दालों का उपयोग कर विशिष्ट व्यंजन बनाने के साथ ही कई मादक पेय बनाने की कला भी विकसित कर ली थी। चाहें तो अपनी हठधर्मिता को त्याग कर हम भी यहाँ की परम्परागत छंग, रक्सी व अन्य मादक पेयों को परिष्कृत कर विश्व बाजार में परोस सकते हैं। आप माने या न माने पर यूरोप की समृद्धता में उनके परम्परागत मादक पेयों का बड़ा हाथ है।

7.6 मवेशी

फसलों की प्रजातियों की ही तरह यहाँ के लोगों ने विशिष्ट प्रजनन विधि का उपयोग कर के क्षेत्र के लिये सर्वथा उपयुक्त पशु प्रजातियाँ भी विकसित की थी। सरसरी तौर पर देखने पर

छोटी लुटिया भर दूध देने वाले यहाँ के जानवर किसी को भी अनुत्पादक लग सकते है पर यदि इनके द्वारा दी जाने वाली खाद, पोषण व श्रम शक्ति की तुलना इनके रख-रखाव पर लगाये जाने वाले संसाधनों से की जायें तो इनसे ज्यादा उत्पादक व कार्यकुशल (efficient) पशु शायद ही मिल पाये। आखिर आज हम दिये जा रहे लाभ (output) व निवेश किये जा रहे संसाधनों (input) की तुलना के आधार पर ही तो किसी उपक्रम की कार्यकुशलता की गणना करते हैं!

यहाँ पहाड़ों में इन जानवरों के लिये कुछ किया जाता है तो बस इनके रहने के लिये जगह की व्यवस्था व उसका रख-रखाव। सुबह दुह लेने के बाद इन्हें प्रायः खोल दिया जाता है और यह अपना भरण-पोषण गाँव के आस-पास के चारागाहों में स्वयं ही कर लेते हैं। साँझ होते-होते यह स्वयं वापस भी आ जाते हैं और इनमें से कई तो थोड़ा ही सही पर शाम को भी दूध दे ही देते हैं। इनसे मिलने वाली पोषक खाद व श्रम शक्ति को तो बोनस ही समझा जा सकता है।

7.7 पशु-बलि

इस पहाड़ी क्षेत्र में स्थानीय देवी-देवताओं को जानवरों की बलि देना सामान्य है और यहाँ के लोग किसी काम के

सफलतापूर्वक हो जाने पर देवी-देवताओं को प्रायः परम्परा के अनुसार पशुओं की बलि देते हैं। अब यह सब हिन्दू धर्म की मुख्यधारा को स्वीकार नहीं है और साथ ही जानवरों की हितैषी कई संस्थायें भी यहाँ के लोगों की इस प्रथा का प्रायः विरोध करती ही रहती हैं पर यहाँ इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि बलि चाहे कोई भी दे, देवी-देवताओं को चढ़ाये गये पशु के माँस का एक-बराबर हिस्सा समुदाय के सभी परिवारों को दिये जाने की यहाँ परम्परा है। ऐसे में यहाँ के लोगों की पशुबलि की इस प्रथा की विवेचना निश्चित ही भोजन में पोषकता सुनिश्चित करने की यहाँ के लोगों की कोशिश के रूप में की जानी चाहिये।

सड़क हादसे

अभी हाल का परिदृश्य या सड़क दुर्घटनाओं के आंकड़े देखने पर आप पायेंगे कि आज इस क्षेत्र में आपदा से कहीं ज्यादा लोग सड़क हादसों में मारे जाते हैं।

वैसे तो इन दुर्घटनाओं के कई कारण हैं पर तेज गति इनमें से

वर्ष	घटनायें	मृत्यु	घायल
2005	–	90	118
2006	55	202	477
2007	186	400	1143
2008	216	543	1163
2009	81	278	1026
2010	162	354	771
2011	144	251	749
2012	217	361	929
2013	41	631	82
2014	150	253	624
2015	207	329	799
2016	77	125	424
2017	198	290	720
कुल	**1834**	**3539**	**9127**
औसत	**153**	**272**	**702**

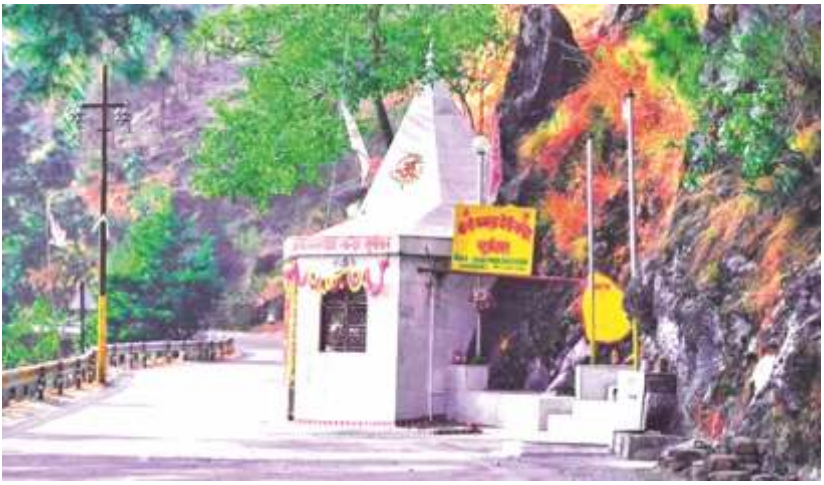

चित्र 27 - दुर्घटना प्रवृत्त स्थानों पर स्थानीय देवी-देवता का मन्दिर

प्रमुख है और फिर प्राय: देखा गया है कि यह दुर्घटनायें किसी विशिष्ट स्थान पर ही ज्यादा होती है। ऐसे में यहाँ के लोगों ने इन दुर्घटना प्रवृत्त स्थानों पर स्थानीय देवी-देवताओं के मन्दिर बनाने शुरू कर दिये। अपने अनुभव के आधार पर इन लोगों को पता जो था कि आस्था के नाम पर की गयी अपील का असर अपेक्षाकृत ज्यादा और जल्दी होता है।

अब इसे अन्धविश्वास कहें या देखा-देखी पर क्षेत्र के स्थानीय वाहन चालक इन मन्दिरों में रूकें या न रूकें; सिर झुकाना व रफ्तार कम करना नहीं भूलते।

यहाँ के लोगों का यह आज का तरीका है बढ़ रही सड़क दुर्घटनाओं को कम करने का और काफी हद तक उनका यह तरीका सफल भी सिद्ध हो रहा है।

आज का परिदृश्य

अब तक हमने हिमालयी क्षेत्र में रह रहे लोगों द्वारा संसाधन प्रबन्धन के लिये उपयोग में लायी जाने वाली विधियों व उनसे होने वाले संसाधनों के संरक्षण से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर चर्चा की और जाना कि किस तरह से इन सब के कारण यहाँ प्रायः घटित होने वाली आपदाओं के प्रभाव सीमित हुवे और कैसे यहाँ के मूल निवासी इस आपदा संवेदनशील क्षेत्र में सुरक्षित बने रह पाये।

संसाधन प्रबन्धन की इन्हीं विधियों के बल पर यह क्षेत्र कभी लोगों की आवश्यकता से कहीं अधिक उत्पादन करने वाला क्षेत्र होता था। ऐसा न होता तो इस क्षेत्र का हर परिवार पक्के बहुमंजिला भवन में निवेश भी तो नहीं कर पाता।

यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि लम्बे समय से चली आ रही परम्पराओं या रीति–रिवाज़ों से निश्चित ही समाज को कोई सीधा या परोक्ष लाभ पहुँच रहा होगा। फिर इन परम्पराओं या रीति–रिवाज़ों की निरन्तरता में व्यक्ति की समाज पर निर्भरता का बड़ा हाथ रहा है। समय बीतने के साथ आये सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक परिवर्तनों के कारण धीरे–धीरे लोगों की समुदाय पर निर्भरता घटती चली गयी; पहले जो काम लोग

स्वयं मिल-जुल कर लिया करते थे आज उसके लिये सरकार की योजनाओं का मुँह देखने लगे हैं या फिर स्वयं पैसे खर्च करने लगे हैं।

ध्यान देने पर आपको शादी-ब्याह से लेकर सार्वजनिक अवसंरचनाओं के रख-रखाव तक जीवन के हर क्षेत्र में आया यह परिवर्तन स्पष्ट नजर आयेगा। ऐसे में परम्परागत विधियों व तकनीकों का ह्रास होना स्वाभाविक है और उसके नतीजे भी हमारे सामने है। पता नहीं कब और कैसे पर संसाधन प्रबन्धन की परम्परागत विधियों का ह्रास होने के साथ देखते-देखते ही कभी समद्ध रहा यह क्षेत्र धनादेश या मनी आर्डर आधारित अर्थव्यवस्था में तब्दील हो गया!

फिर यह सब भी बहुत लम्बा नहीं चला। शुरू-शुरू में तो नौकरी के लिये बाहर जाने पर लोगों की जड़े गाँव से जुड़ी रहती थी; वहाँ परिवार के बाकी सदस्य जो रहते थे। ऐसे में नौकरी के लिये क्षेत्र से बाहर चले गये व्यक्ति परिवार की गुजर-बसर के लिये नियमित रूप से पैसे भेजा करते थे और ज्यादातर स्थितियों में सेवानिवृत्ति के बाद वापस गाँव लौटते भी थे। पर आज तो पीछे कोई छूट ही नहीं रहा है। बाहर जाने वाला हर व्यक्ति परिवार को भी अपने साथ ही ले जा रहा है।

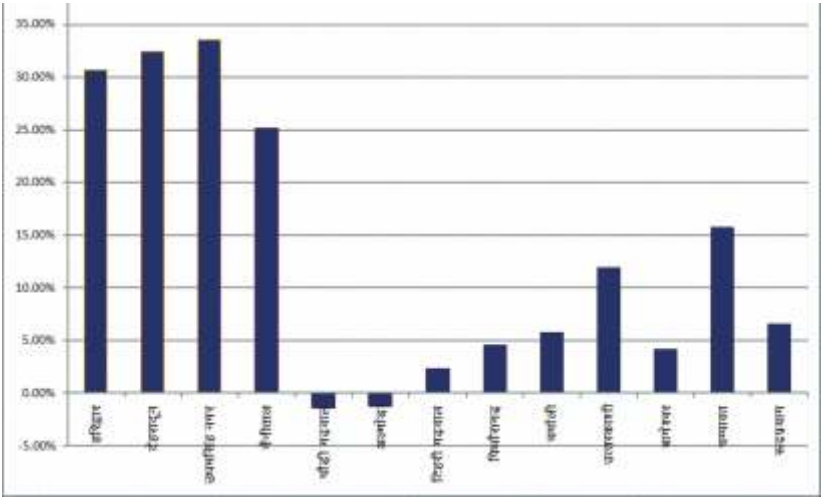

चित्र 28 – राज्य की जनसंख्या वृद्धि दर (2001 के सापेक्ष 2011 की जनगणना पर आधारित)

ऐसे में कोई मनी आर्डर भेजें भी तो किसे? कभी संस्कृति के केन्द्र रहे अल्मोड़ा व पौड़ी की ऋणात्मक जनसंख्या वृद्धि क्षेत्र से हो रहे पलायन की दशा को स्पष्ट दर्शाती है।

क्षेत्र में लगातार बढ़ रही आपदा की घटनायें भी यहाँ से पलायन के लिये उत्तरदायी हो सकती हैं पर ऐसा सिद्ध करने के लिये भी ठोस आंकड़े चाहिये जो कहीं है नहीं।

हम आपदा प्रबन्धन की परम्परागत विधियों की कर रहे थे और इस परिप्रेक्ष्य में आवश्यक हो जाता है कि इन विधियों को सिलसिलेवार अभिलेखित किया जाये और उन्हें वर्तमान स्थितियों के अनुरूप परिष्कृत कर के उपयोग में लाया जाये। हमें समझना होगा कि इसी से हमें आपदा सुरक्षा के सस्ते,

टिकाऊ व लोगों के द्वारा स्वीकार्य विकल्प मिल सकते हैं। हम सभी को समझना होगा कि इसके बिना व केवल बाहर से आये परामर्शदाताओं द्वारा सुझायी गयी तथा भारी भरकम निवेश पर आधारित तकनीकों के बल पर इस क्षेत्र में आपदाओं के प्रभावों को कम कर पाना सम्भव नहीं है।

अब तक की गयी बातों से आप समझ ही गये होंगे कि यहाँ इस आपदा संवेदनशील क्षेत्र में रहने वाले लोग अपने समुदाय की आपदा से सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिये क्या किया करते थे और यह विधियाँ कितनी कारगर थी। अब तक आप शायद यह भी जान ही गये होंगे कि इन लोगों के द्वारा अपने अनुभव व अर्जित ज्ञान के आधार पर विकसित किये गये यह तरीके आज भी अवश्य ही कारगर हो सकते हैं।

अभी तक हमारे वैज्ञानिकों ने न ही यहाँ के लोगों के परम्परागत ज्ञान के अस्तित्व को ठीक से स्वीकारा है और न ही इससे जुड़े विभिन्न पक्षों पर गम्भीरता से काम करने की आवश्यकता ही महसूस की है। इस परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिकों का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित करने के लिये विशेष रूप से प्रयास किये जाने आवश्यक हैं।

हो सकता है यह पुस्तक इस परिप्रेक्ष्य में एक सार्थक प्रयास सिद्ध हो।